मैने कहा

लक्ष्मीकान्त झा

ग्रंथ-संख्या ३८

प्रकाशक

भारती भंडार

(पुस्तक विक्रेता तथा प्रकाशक)

रामघाट, बनारस सिटी

प्रथम संस्करण

१९,—४०

मू० १॥)

मुद्रक—

बजरंगबली "विशारद"

श्रीसीताराम प्रेस,

जालिपादेवी, काशी ।

अपनी बात

इन निबन्धों द्वारा मैंने हिन्दी में एक नयी ही शैली के प्रयोग की चेष्टा की है। ये निबन्ध उस शैली के हैं जिसके अँगरेजी के व्यक्तित्व-प्रधान-निबन्ध (Personal Essay) हुआ करते हैं। इस शैली पर, जिसकी सृष्टि बेकन, एडिसन, लैम्ब, हैजलिट, स्टिवेन्सन, चेस्टर्टन, गार्डिनर, लुकास आदि बड़े बड़े लेखकों ने की है, मैं बराबर मुग्ध रहा हूँ। यद्यपि मेरी रचना में बहुत-सी त्रुटियाँ हैं तथापि यदि इस नवीन शैली के प्रति हिन्दी संसार को रुचि उत्पन्न हो और योग्यतर साहित्य-सेवी इस शैली की ओर आकृष्ट होकर इससे भी अच्छे ढंग से लिखने के लिये इस शैली का अनुकरण करें तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा।

इनमें से अधिकतर निबन्ध समय समय विभिन्न पत्र-पत्रिका में प्रकाशित हो चुके हैं। 'रात का सफर' 'सरस्वती' में, 'सफर' 'माया' में, 'निन्दा की प्रशंसा' 'हंस' में और बाकी निबन्ध—'मैजिशियन', 'बुरी चीज' और 'पण्डितजी का बटुआ' को छोड़—'आज' में प्रकाशित हो चुके हैं। उक्त पत्रों के सम्पादकों के प्रति मैं कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

यह कह देना भी आवश्यक है कि चार पाँच निबन्ध ऐसे हैं जिनकी न केवल शैली बल्कि विषय भी गार्डिनर, लुकास, चेस्टर्टन आदि लेखकों के लेखों के आधार पर हैं। मैं इन अँगरेज लेखकों के प्रति भी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

पर इस पुस्तक की रचना में सबसे अधिक सहायता मुझे पंडित दिनेशदत्त झा जी ने दी है। उन्हें धन्यवाद देने का अधिकार मुझे नहीं। इतना ही कहूँगा कि लिखने का आनन्द तो मैंने लूटा और कष्ट—मेरे अक्षरों को पढ़ने से लेकर प्रूफ संशोधन करने तक का—उन्होंने उठाया।

'पंडित' को 'पीड़ित' कर देनेवाले प्रेस के भूतों से पार पाना कठिन है। 'की', 'का' इत्यादि विभक्तियों में उलट फेर करके लिंग-विपर्यय कर देना तथा मात्राओं का लोप कर शब्दों को विकृत कर देना इनका स्वभाव है। ऐसे दोष इस पुस्तक में भी हैं। विज्ञ पाठक कृपया सुधार लें।

बाँस फाटक, काशी।
चैत्र शुक्ल पक्ष, सं० १९९१ वै०
मार्च, १९३४ ई०

लक्ष्मीकान्त झा

विषय सूची

मैंने कहा—

खोयी चीज की खोज

मेरी चीजें अक्सर खो जाती हैं। लोग कहते हैं कि तुम बड़े लापरवाह हो, इसीलिये तुम्हारी चीजें खोती रहती हैं और फिर घण्टों परेशान होने के बाद तुम उन्हें ढूँढ़कर पाते हो। यदि तुम जरा सावधान रहो और अपनी चीजों को सिलसिले से और सहेजकर रखो तो तुम्हें मामूली चीजों के लिये परेशान न होना पड़े।

मैं मानता हूँ कि कभी-कभी किसी चीज के खो जाने से विशेष कष्ट होता है। कभी-कभी दावत में बेतकल्लुफी से खाने से बदहजमी भी हो जाती है। पर हम दावत में ठूँसने से बाज कभी नहीं आते। ठीक इसी प्रकार हम चीजों को, खो जाने के

भय से, सिलसिले से रखने की परवाह नहीं रखते। आपने "सौ वर्ष जीने" का अथवा "अमर होने" का उपाय किसी न किसी पुस्तक में अवश्य पढ़ा होगा। यदि आपने विचार किया हो तो देखा होगा कि अमर होने के लिये मनुष्य को ऐसे उपायों का अवलंबन करना पड़ेगा कि मनुष्य का जीवन ही भार-सा हो जायगा। मुझे यदि उन उपायों का पालन साल भर भी करना पड़े तो मैं आत्महत्या करने पर उतारू हो जाऊँ, फिर सौ वर्ष तक अथवा अनन्तकाल तक जीने की तो बात ही छोड़ दीजिये। संभवतः यही कारण है कि ऐसी किताबों के लेखक स्वयं पचास वर्ष तक भी बहुधा नहीं जीते। हाँ, तो आप जिस प्रकार इन किताबों में दीर्घायुप्राप्ति के उपायों को पढ़कर भी दीर्घायु प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करते उसी प्रकार मैं भी अपनी चीजों के सँभालने के विषय में उपदेश सुनकर भी नहीं सुनता।

जो लोग ऐसे उपदेश देते हैं उन लोगों पर मुझे दया आती है, क्रोध नहीं। पर एक श्रेणी के लोग हैं जिन पर मुझे गुस्सा आता है। एक उदाहरण लीजिये। आप दफ्तर अथवा कालेज जा रहे हैं। ऐन मौके पर सहसा आप देखते हैं कि आपकी पेंसिल आपकी जेब में नहीं है। अब आपने अपनी कोठरी की तलाशी शुरू की। खुफिया पुलिसवालों की तरह बड़ी मुस्तैदी से अपनी कोठरी के कोने कोने की खाक छान डाली।

इसी समय आपकी पत्नी आकर पूछती है—

'क्या ढूँढ़ रहे हैं ?'

"पेंसिल ढूँढ़ रहा हूँ।"

"जेब में नहीं है क्या ?"

अब आप ही सोचिये कि जेब में पेंसिल रहने पर चारपाई के नीचे घुसकर कोई थोड़े ही पेंसिल ढूँढ़ता है। फिर पूछती है—

"मेज पर देखा ?"

अगर इस बात पर भी आपको गुस्सा न आवे तो आप संसार में रहने के योग्य नहीं। आप कुछ बोलना ही चाहते हैं कि आपकी नजर घड़ी की ओर जाती है और आप देखते हैं कि देर बहुत हो गयी है। ऐसे समय बहस शुरू करना अच्छा नहीं। इसी समय श्रीमतीजी भी किसी काम से बाहर जाती हैं। आप पेंसिल के ढूँढ़ने का भगीरथ प्रयत्न जारी रखे हुए हैं। दो मिनट के बाद श्रीमतीजी ने फिर आकर पूछा—

"अब भी पेंसिल नहीं मिली ?"

आप इस बार भी गुस्से को दबाये रहे। फिर दूसरा प्रश्न—

"कहीं खादी के कुर्ते में तो नहीं रही ? उसे मैंने धोबी के यहाँ भेज दिया।"

"अजी नहीं, मैंने आज, बल्कि अभी आध घंटे पहले, उससे लिखा है। बैगनी रंग की पेन्सिल थी। बिलकुल नयी कापी-

इंग पेंसिल, चार आने को ली थी।"

"अरे, ठीक, याद आया। उसे पानी में भिगोकर टीका लगाने मैं ही ले गयी थी, अभी लायी"—यह कहकर श्रीमतीजी आती हैं। ऐसे समय आपके मन की दशा कैसी होगी यह आप स्वयं अनुमान कर लें।

एक बार मैंने एक नयी किताब खरीदी। पर दूसरे दिन घर का कोना कोना छान डाला, किताब का पता न मिला। रसोई-घर भी नहीं छोड़ा, फिर भी किताब नहीं मिली। घर भर के सभी लोगों ने हल-चल मचा दी। ढूँढ़ते ढूँढ़ते कई दावातें उड़ेलीं, दवा की कई शीशियाँ फोड़ीं, जिन चिट्ठियों का जवाब देना बाकी था उन्हें पुरानी चिट्ठियों की फाइल में और जो पुरानी थीं उन्हें नयी चिट्ठियों की फाइल में डाल दिया, किताब के बकसों में कपड़े और कपड़े के बकसों में किताबें डाल दीं। सब कुछ किया। पर किताब न मिली। परीक्षा निकट थी। फिर दूकान की तरफ दूसरी किताब खरीदने लपका। राह में मन में आया कि एक बार फिर घर में जाकर खोज आऊँ। फिर घर गया। ऊधम और हल-चल की द्वितीयावृत्ति हुई। अन्त में हताश होकर फिर दूकान पर गया। दूकानवाले ने कहा—"वाह साहब वाह, आप भी खूब हैं! कल किताब खरीदी, दाम दिया और किताब यहीं छोड़कर चलते बने।"

यह सुनकर मेरे मन में जो प्रसन्नता हुई उसके लिये मैं कुछ रुपये भी खर्च करने को तैयार सा होगया।

आप जब किसी नये शहर में जाते हैं तो आप अपने साथ एक "गाइड" ले सकते हैं अथवा गलियों में भटकते हुए राह भूलते चक्कर काट सकते हैं। मुझे तो चक्कर काटना ही पसन्द है। यह सुनकर मेरे कुछ मित्र चक्कर में पड़ जायँगे पर लाचारी है। इसमें आपको जरा परिश्रम पड़ेगा, पर दिन भर अपने डेरे के दस ही कदम आगे से बीसों बार निकल जाने के बाद सहसा अपने निवासस्थान पर पहुँचने में क्या आनन्द होता है, इसे सब नहीं जानते। दूसरा लाभ यह है कि कुछ भटकने से आपको शहर भी देखने को मिल जाता है। मैंने अक्सर देखा है कि किसी खोयी हुई चीज को ढूँढ़ते ढूँढते कोई कोई बहुत पहले की खोयी हुई चीज भी मिल जाती है। उस समय मेरे मन में जितना आनन्द होता है उतना आनन्द जब्त किताब की तलाशी लेते लेते तमंचा—चाहे वह नकली ही क्यों न हो—पाने पर पुलिसवालों को भी न होता होगा। इस आनन्द का अनुभव सब नहीं कर सकते। खासकर जिनके यहाँ सभी काम सिल-सिले से होता है, जो अपने घर की सभी चीजों पर जेल के कैदियों की तरह नम्बर देकर रखते हैं, उनके लिये तो यह आनन्द पाना असम्भव ही है।

यह आनन्द इसलिये नहीं होता कि खोयी हुई चीज के बिना हमारा काम नहीं चलता, अथवा वह कीमती होती है। एक बार एक सज्जन ने मुझसे पोस्ट आफिस में फाउन्टेन पेन ली। इसके बाद वे मुझे आज तक कहीं देख भी नहीं पड़े। इस फाउनटेन पेन के लिये मुझे दुःख जरूर हुआ। पर उससे कहीं अधिक दुःख उसके कारण एक मित्र के खो जाने से हुआ। नयी पेन्सिल के खो जाने से अधिक दुःख होता है। यदि मुझे वह फाउनटेन पेन वापस भी मिल जाय तो उतना आनन्द न होगा जितना एक खोयी पेंसिल के मिलने से होता है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि पोस्ट आफिस से निकलते ही मैंने पेन की आशा छोड़ दी, पर खोयी हुई चीज के लिये तो जब तक सांस तब तक आस रहती है।

यदि आपने कभी इस आनन्द का अनुभव नहीं किया तो आप एक बार परीक्षा करके देखिये। मानव जीवन भी किसी खोयी हुई चीज का खोज ही तो है। खोजते खोजते बहुत सी दूसरी चीजें मिल तो जायँगी पर हमें उस असल चीज की खोज बन्द न कर, उसकी तलाश में लगे रहना है।

"जिन 'खोजा' तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ।"

किफायत

हाल में ही मैं संसार के वर्तमान अर्थसंकट पर एक प्रसिद्ध अर्थशास्त्री की पुस्तक पढ़ रहा था। यों तो मैं विद्वानों से बहुत दूर भागता हूँ—विद्वानों की लिखी पुस्तक कभी नहीं पढ़ता—कारण विद्वान् दो ही प्रकार की बातें कहते हैं। एक तो ऐसी बात जिसे आप खुद जानते हों, दूसरी ऐसी जिसे आप कभी समझने की उम्मीद न कर सकते हों। मैं यह पुस्तक कभी न पढ़ता। पर बात यह हुई कि पुस्तक पढ़ने के पहले मुझे यह मालूम न था कि लेखक महोदय विशेष विद्वान् हैं। नहीं तो विशेष विद्वान् की पुस्तक पढ़ने की मूर्खता मैं कभी न करता।

खैर इस पुस्तक के पढ़ने से मुझे निश्चय हो गया कि विद्वान् अब तक बदले नहीं हैं। बस वे ऊपर बतायी गयी दो प्रकार की बातें ही कहा करते हैं। आजकल इतने लोग बदल रहे हैं—नये वकील नौकरी ढूँढ़ रहे हैं, पुराने वकील; जो नौकरी कर रहे थे, किफायत में हटा दिये जाने के कारण, फिर वकालत शुरू कर रहे हैं। लेखक भूख की ज्वाला से पत्र निकालकर सम्पादक बन रहे हैं। संपादक—भूख की ज्वाला से ही—फिर लेखक बन रहे हैं। पर हमारे विद्वान्—मैं हर्ष के साथ कहता हूँ—न बदले।

इस पुस्तक में भी मुझे बस दोही ढंग की बातें मिलीं। पहले बतलाया गया था कि आजकल संसार में बड़ा ही आर्थिक हाहाकार मचा हुआ है, लोगों के पास पैसा नहीं है, सबकी बड़ी दुर्दशा हो रही है, यदि यही क्रम जारी रहा तो न जाने क्या हो जायगा। इतना तो मैं जानता ही था। आगे कहा गया था कि इसका एकमात्र कारण "ओवर प्रोडक्शन" है। अर्थात् संसार में आवश्यकता से अधिक चीजें बनायी और उपजायी जा रही हैं। यह बात मेरी समझ में न आयी न आवेगी। भला सोचिये तो सही यदि संसार में आवश्यकता से अधिक चीजें होतीं तो हमको और आपको इस प्रकार अपनी आवश्यक से आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति से वंचित रहना पड़ता? यदि संसार में आवश्यकता से अधिक चीजें हैं तो फिर प्रत्येक के पास आवश्यकता से अधिक चीजें क्यों नहीं हैं?

पर हम जानते हैं कि बात इसके बिलकुल विपरीत है। हम सबको हर एक चीज की कमी मालूम पड़ती है। किसी को पान की मात्रा कम करनी पड़ी तो किसी को भाँग की। किसी को ड्यौढ़ा छोड़ तीसरे दर्जे में सफर करना पड़ा, तो कोई इस साल ससुराल जा ही न सका। किसी पाठक को अखबार खरीदना बन्द करना पड़ा, तो किसी प्रकाशक को, "आर्डिनेंस के कारण" अखबार निकालना बंद करना पड़ा।

जब हममें कोई दोष होता है जिसे हम स्वयं पसन्द नहीं करते, तो उसके लिये बहाना ढूँढ़ते हैं। बहुत से लोग इतिहास प्रसिद्ध लोगों का दृष्टांत देते हैं। अफीमची कहते हैं कि बादशाह अकबर अफीम खाते थे। नाटे कद के लोग कहते हैं कि नेपोलियन और महात्मा गांधी को देखो। मुझसे जब कोई कहता है कि तुम्हारे अक्षर बड़े खराब होते हैं तो मैं कहता हूँ कि टालस्टाय के अक्षर बड़े ही खराब होते थे। (आज तक मुझसे यह किसी ने नहीं पूछा कि क्या तुमने टालस्टाय के अक्षर देखे थे? एक साहब ने पूछा भी तो मैंने उत्तर दिया "आपने नहीं देखे क्या?" वे चुप हो गये। पर अब मुझे सचमुच यह जानने की इच्छा होती है कि टालस्टाय के अक्षर कैसे थे। कोई सज्जन बतला सकते हैं? मुझे तो विश्वास हो गया है कि टालस्टाय के अक्षर अच्छे नहीं होते थे।) पैसा बचानेवालों की सान्त्वना के लिये कुछ दृष्टांत उपस्थित करता हूँ।

पर मैं किसी इतिहासप्रसिद्ध महापुरुष का दृष्टांत देने का विचार नहीं करता। कारण, जबसे "सम्मेलन" ने इतिहास के लिये पारितोषिक देने की घोषणा की तबसे इतिहास जाननेवाले हिन्दी लेखकों की संख्या बेतरह बढ़ गयी है। मैं बड़े आदमियों का नहीं, धनिकों का उदाहरण देनेवाला हूँ।

धनिकों की किफायत में मुझे विशेषता मालूम पड़ती है।

हम लोग पैसा बचाते हैं जरूर—पर जैसे तैसे, हर बात में जहाँ तक जो बन पड़े, बचाते हैं। जब ज्यादा पैसे रहे तब ज्यादा खर्च किया, जब कम रहे तो कम, जब न रहा तो कर्ज लिया। पर धनिकों की किफायत पैसे की कमी बेशीपर निर्भर नहीं। उनके पास, कम से कम, जरूरत से ज्यादा पैसे तो रहते ही हैं। इसलिये उनकी किफायत हम लोगों की तरह न होकर, बड़े नियम से चलती है। हम लोगों को जब मौका मिलता है तब पैसे बचाते हैं। जब किसी चीज को बरबाद होते देखते तब उसे बचाते हैं। मेरे एक धनी मित्र हैं जो सब काम में पैसे—नहीं नहीं रुपये जी खोलकर खर्च करते हैं। पर आप एक चीज को बरबाद होते नहीं देख सकते। वह चीज है ब्लाटिंग पेपर (सोखता)। आपकी मेज पर सुन्दर दूध के समान सफेद ब्लाटिंग पैड रखा रहता है। यदि कोई अज्ञानी अपरिचित सज्जन कुछ लिखकर उसपर छापकर सुखावें तो फिर दूसरे दिन से उनके वहाँ जाने की सम्भावना नहीं रह जाती। मेरे मित्र स्वयं अपनी चिट्ठियों को, सुन्दर 'पैड' सामने रहने पर भी, फूंक फूंक कर सुखाते हैं। ब्लाटिंग पेपर को कभी गन्दा नहीं होने देते।

मेरे एक और मित्र हैं जो किसी रस्सी या सूत के टुकड़े को कहीं पड़ा पाते हैं तो झट उसे उठा कर बड़े जतन से रख

लेते हैं। आपके पास ऐसे एक इंच से तीन हाथ तक के टुकड़ों का बहुत बड़ा संग्रह हो गया है। पर आप उससे कभी एक टुकड़ा भी जल्दी निकालते नहीं। आपका कहना है कि रस्सी बरबाद करनेकी चीज नहीं! आपके तीन मोटरकार हैं।

धनिकों का मितव्यय अस्थायी नहीं होता। वह उनके सारे जीवन में व्याप्त रहता है। ब्लाटिंग पेपर, रस्सी के टुकड़े, निब, तार का तेरहवाँ शब्द, आदि का बचाना उनके जीवन के महत् उद्देश्यों में होता है। उनकी किफायतसारी अटल, अचल और ध्रुव होती है। गरीबों का खर्च घटता भी है बढ़ता भी। जो इस साल रेल के तीसरे दरजे में सफर करते हैं, वे शायद अगले साल दूसरे दरजे में सफर करें। जो इस साल ससुराल न गये वे अगले साल शायद ननिहाल भी जायं। किसी दिन—शायद दिन भर के लिये ही—हम मितव्ययिता के बंधन से मुक्त हो कर चाहे जो करें। पर धनिक आजीवन मितव्ययिता के बंधन से जकड़े रहते हैं। वे कभी मुक्त होने के नहीं। ब्लाटिंग पेपर को कोई न कोई काला कर ही देगा—ग्रामोफोन की सुई कोई समय से पहले बदल ही देगा, कोई रस्सी के टुकड़े को भी खो देगा—और इनका हृदय इन छोटी छोटी बातों पर विदीर्ण होता रहेगा।

हमको इनपर दया आवे या हंसी?

अनूठे सन्तरे

"मूर्खा! अशिक्षिता! निरक्षरा! यों तो मैं सदा से स्त्री-शिक्षा का विरोधी हूँ, पर तुम्हारी मूर्खता कभी कभी मेरे हृदय में स्त्री-शिक्षा जैसी असनातन वस्तु की भी इच्छा उत्पन्न कर देती है।"

आवाज पण्डित गोवर्धन मिश्र की थी। अवश्य ही आज कोई विशेष स्थिति उत्पन्न हुई है नहीं तो यह प्राचीन दम्पति इस अर्वाचीन प्रथा—कलह—का अनुकरण कभी न करता। यही सोचता सोचता मैं बैठक में घुसा।

देखा गोवर्धनजी का बुरा हाल था। बांये गाल के नीचे दबी पान की गिलौरी से एक धारा बह निकली थी। आँखें देखने से मालूम पड़ता था कि आज मिश्रजी ने भंग की मात्रा दुगनी कर दी है। नाक देखने से जान पड़ता था कि जुकाम ने पण्डितजी पर हमला किया है। कानों को देख कर मुझे भय हुआ कि कहीं पण्डितजी की स्त्री ने उनके साथ उनके गणित-शिक्षक जैसा व्यवहार तो नहीं किया।

उनकी स्त्री उस कमरे में नहीं थीं। इसलिये मैं ने पूछा—"क्यों पण्डितजी, आज आप इतने नाराज क्यों हो रहे हैं?"

"और मुझसे ही कहती है कि तुम्हारा नाम ही ऐसा है। हुँः !"

"आखिर बात क्या है ?"

"बात ?" उन्होंने इस बार मेरी ओर देखकर कहा—"बात क्या होगी ! बस वही पुरानी बात। इस नई मजूरनी को मेरे नाम का शुद्ध उच्चारण भी नहीं मालूम ! वह मुझे गोबर धन मिसिर कहती है। मैंने उसे फौरन नौकरी से छुड़ाने को कहा तो मेरी स्त्री मुझसे लड़ पड़ी। कहने लगी कि अगर मैं तुम्हारा नाम लेती तो मैं भी यही कहती। तुम्हारा नाम ही ऐसा है। भला इसपर मुझे क्रोध न आए ?"

"आए और जरूर आए ! अंग्रेजी के एक लेखक आर० एल० स्टीवेन्सन थे। उनकी एक किताब को...

"हुँः ! तुम्हें साहित्यचर्चा सूझी है ? यदि मैं साहित्यसेवी होता तो जरूर मानहानि का मुकदमा दायर करता।"

"अजी नहीं ! सुनिये तो। उसकी एक किताब को एक प्रकाशक ने बिना उसकी आज्ञा के और बिना उसे एक पैसा भी दिये छाप दिया। इस बात को सुनकर हमारे स्वदेशाभिमानी लेखक गण शायद ऐसा करने वाले भारतीय सम्पादकों पर इसलिये न बिगड़ जायें कि यह प्रथा भी नकल, 'अनुवाद' और जूठन है। खैर जो कुछ हो, उस पुस्तक पर प्रकाशक ने स्टिवेन्सन की

जगह स्टिफेन्सन लिख दिया। कहा जाता है कि स्टिवेन्सन को अपनी पुस्तक की चोरी के लिये उतना दुःख न हुआ जितना अपने नाम की अशुद्धि के लिये। इसलिए मैं कहता हूँ कि आपका गुस्सा होना बिलकुल स्वाभाविक, उचित और सराहने योग्य है।"

"क्या कहूँ भई, अगर सनातनी होने के बजाय मैं और कुछ होता तो अपनी स्त्री को इस अपराध में "एडिङ ऐण्ड एबेटिङ" के लिये तलाक दे देता। पर सनातनधर्मी पण्डित हूँ। इसी पाण्डित्य से 'भांग बूटी' का और ऊपर का जेब खर्च निकल जाता है। तनख्वाह तो गिरस्ती में पहले ही से ख़र्च रहती है। इसीलिये मन मसोस कर रह जाता हूँ।"

भाँग-बूटी का स्मरण होते ही पण्डितजी कुछ ठण्डे पड़ गये। उन्होंने लोटे की ओर हाथ बढ़ाते हुए कहा—"तुम तो न पान खाते हो न बूटी छानते हो, अजब मनहूस हो। अच्छा, आज प्रदोष है, शिवजी का नाम लेकर थोड़ी सी भंग ले लो।"

"आप तो जानते ही हैं कि मैं भंगी नहीं हूँ। यदि शर्बत पिलावें तो बड़ी कृपा हो।"

"शर्बत ? भई, सब सामान अन्दर है, माफ करो, अभी मैं उससे कुछ माँग नहीं सकता।"

"कोई हर्ज नहीं। मैं..."

"ओफ ओह ! एक बड़े मार्के की बात याद आयी। चलो

मैं तुम्हें एक चीज खिलाऊँ, जिसका नाम पीछे सुनकर मेरी श्री जलेगी। आज तक उसे खुद मैंने भी नहीं चखा है। पर पहले मुझे..." कहकर गोवर्धनजी ने लोटा खाली कर दिया।

'एक चीज' का नाम सुन मेरे मन में उत्सुकता तो जरूर हुई, पर मैं चुप रहा, क्योंकि गोवर्धनजी किसी भी प्रकार की उत्सुकता नापसन्द करते हैं।

दो लम्बी डकारों के बाद आप कहने लगे,—"हमारे शास्त्रों में यह नियम है कि व्रत करे और व्रत करने से होनेवाले फलों को न सुने तो व्रत का कोई भी फल नहीं मिलता। पहले माहात्म्य सुनना आवश्यक है। इसलिये मैं भी उस चीज का माहात्म्य ही तुम्हें पहले सुनाऊँगा। लो अपनी सगडल पहन कर मेरे साथ हो लो। भंग के प्रेमियों का कहना है कि भंग छानकर फौरन निपटने चला जाय। कोठे पर हो तो कूद पड़े। सीढ़ियाँ उतरने का आसरा न करे। बाग की ओर चले चलो। तुम्हारा टहलना भी हो जायगा। उस अपूर्व वस्तु की कहानी भी सुनाऊँगा।...

"मेरे साले की जहाँ सादी हुई है वहीं उसका एक रिश्ते में न जाने कौन रहता है जो बी० एस-सी० में बोटैनी (उद्भिज्ज विज्ञान) पढ़ता है। वह मेरे यहाँ अक्सर आया करता है। एक बार उसे मैं अपना बाग दिखाने ले गया।

"बाग के दक्षिण ओर एक छोटा सा पेड़ है। छोटी छोटी

खट्टी नारंगी जिसका लोग अचार और चटनी में उपयोग करते हैं, ठीक उसीके पेड़की तरह का वह पेड़ है। हम भी तब तक उसे यही समझे हुए थे। घूमते फिरते हम दोनों उस पेड़ के पास पहुँचे। देखते ही वह चौंक कर बोला—

"अरे यह तो" उसने एक विचित्र लैटिन नाम लिया सो "……'सन्तरा है। यह तो भारत भर में कौन कहे, एशिया भरमें भी कहीं नहीं पाया जाता। यह केवल मेडिटरेनियन सी के उत्तरी तट पर ही पाया जाता है।"

"अजी नहीं! यह तो खट्टी नारंगी का पेड़ है। भूमध्यसागर से इसका क्या सम्बन्ध?"

"वाह, मैंने बोटैनी में इसका पूरा वर्णन पढ़ा है। देखिये—" कह कर उसने एक पत्ता तोड़ लिया और मुझे समझाना शुरू किया कि साधारण नारंगी के पत्ते में और इसमें क्या भेद है इत्यादि। बातें तो मेरी समझ में न आयीं पर उसी दिन से मैंने बच्चों को इस पेड़ के पास तक जानेकी मनाही कर दी।

"मुझे उसीसे मालूम हुआ कि इस सन्तरे में विटैमिन ए से लेकर जेड तक सभी पाये जाते हैं। इसके रस के प्रत्येक औन्स में कई हजार या लाख—मुझे ठीक याद नहीं—"कैलोरी"—उसे कैलोरी ही कहते हैं न?—की शक्ति होती है।

"तुम्हें मेरे भाग्य पर आश्चर्य होता होगा। पर मुझे यह

घटना बहुत ही साधारण मालूम हुई। मुझे आश्चर्य तो असल में इस बात पर हुआ कि यह पेड़ इतने दिनों तक क्यों नहीं मिला था।

"कारण आज सात वर्ष से मैं एक स्तोत्र पाठ करता हूँ। उसके अन्तिम श्लोक में लिखा है—अभी हम लोग राह चल रहे हैं, पैर में जूते हैं, और तुम संस्कृत अच्छी तरह समझ भी नहीं सकते, इसलिये उसका हिंदी अर्थ ही कहता हूँ—जो व्यक्ति इस स्तोत्र का प्रति दिन वर्ष भर तक पाठ करेगा, उसके समान भाग्यवान कोई दूसरा नहीं। यदि इस स्तोत्र का नाम सुनना चाहते हो तो किसी दिन सवेरे बिना चाय वाय पीये—बूटी छान ले सकते हो, उसमें कोई हर्ज नहीं, पर तुम तो भंग पीते ही नहीं—स्नान करके मेरे यहाँ आ जाओ मैं बतला दूँगा।

"उसी दिन मैंने निश्चय किया कि वर्षारंभ के दिन अपने दफ्तर के बड़े साहब को यह अनूठा फल भेंट करूँगा। अंग्रेजी न्यू-ईयर्स डे को नहीं, संवत् के आरंभ होने पर। पहले ही पहल इस बार यह फला भी है खूब लदकर। साहब लोग कुत्ता विलायती पाल लें, रोटी चावल दाल खा लेने के बाद एक स्वदेशी बिस्कुट भी ऊपर से मुंह में रख लें पर कभी भारत से बाहर न जाने पर भी विलायत को ही अपना 'होम' समझने वालों को भारत में रह कर ही भूमध्य सागरपार के, पेड़ से

ताजे तोड़े गये, सन्तरे खाने का सौभाग्य कभी न हुआ होगा। अवश्य ही वह मुझसे इस सन्तरे की भेंट पाकर बड़े प्रसन्न होंगे। संभव है वे भी इसको अपने से ऊपरवाले अफसरों को भेज दें। इस प्रकार यह सन्तरा वायसराय तक पहुँच जायगा। फिर जब इसकी माँग होगी तो मैं सामने आऊँगा ही। फिर तो मेरी तरक्की हुए बिना न रहेगी। मेरे जैसों को पूछता कौन ? बाबूजी से बड़े साहब के साहू संस्कृत पढ़ते थे। सिफारिश से मुझे एक जगह मिल गयी।

"पेड़ में फूल से फल हुआ। फल पक भी गया, पर आज तक न हमने स्वयं इसको चखा न किसी को दिया। आज उस मूर्खा नारी से बदला लेने के लिए स्वयं मैं भी सन्तरे खाऊँगा और तुम्हें भी खिलाऊँगा। और जानते हो, इसी मजदूरनी के कहने पर वह समझती है कि मैं मामूली नारंगी को कोई अनूठा सन्तरा समझ बैठा हूँ। न जाने कितने लोग इसे साधारण नारंगी समझ रहे हैं। फल है भी देखने में वैसा ही। पर मेरे साले के रिश्तेदार ने मुझे पहले ही कह दिया था कि भारत में यह फल कुछ छोटा हो जायगा। खैर, इस भ्रम से मेरा लाभ ही होता है। न कोई इसे तोड़ना चाहता है, न इस पर नजर ही लगाता है।

"देखो वही सामने वह पेड़ है।"

बोटैनी पढ़े बिना कोई उसे मेडिटरेनियन सी के किनारे का सन्तरा नहीं समझ सकता। देखने में नारंगी की ही तरह था।

गोवर्धनजी ने एक तोड़ कर उसे छीला। छिलके गँठिया लिये। कहा मामूली सन्तरे के छिलके तो वैसे काम के होते हैं। आधा मुझे दिया। कहा—"देखो प्रेम से इसका रस चूसना।"

मैंने एक फाड़ मुँह में डाली। ओफ! इसे लोग मामूली खट्टी नारंगी कहते थे? पचास खट्टी नारंगियों के रस में सेर भर चूने जैसे खट्टे दही का पुराना पानी, और पचीस औंस टार्टरिक एसिड मिलाइये। फिर रासायनिक प्रक्रिया द्वारा उसकी सारी खटाई को एक बूंद में कन्सेन्ट्रेट कर मुँह में डालिये। फिर आपको भी इस सन्तरे की एक फाड़ का आनन्द मिल जायगा।

नारंगी की फाड़ के जीभ से लगते ही मैं यों उछल पड़ा जैसे जीभ में बर्रे ने डस लिया! और गोवर्धनजी ने जो गर्दन हिलायी तो नाक में नीबू की डाली की नोक के घुस जाने से वे तिलमिला उठे और भंग का नशा उतर-सा गया।

वे सहसा बोल उठे—"सब दोष मेरा ही है। आज दफ़्तर बन्द रहने से अब तक मैंने न स्नान-पूजा की और न स्तोत्र पाठ। जहाँ गृहलक्ष्मी विमुख, वहाँ बोटैनी विज्ञान झूठा। भूमध्य-सागर पार का सन्तरा खट्टी नारंगी से भी बद्तर!"

घर जाकर गोवर्धनजी ने अपनी स्त्री से मेल कर लिया।

सफ़र

समस्या कठिन थी। चारों ओर चीजें बिखरी हुई थीं—मैं सोच रहा था कि क्या ले जाऊँ और क्या छोड़ूँ। शायद दूसरा कोई होता तो यह सोचता कि सब चीजों को ही क्यों न ले लूँ। पर मैं चाहता था कि सफ़र में जितनी कम चीजें ले जा सकूँ, उतना ही अच्छा।

कुछ लोग ऐसे होते हैं जो घर से बाहर जाते समय अपने समूचे घर को ही बाहर लिये जाते हैं। लखनऊ स्टेशन पर एक बार एक सज्जन मेरे डब्बे में चढ़े। बस, सारा डब्बा भर गया। वे अधिक मोटे न थे। शायद वे मुझसे दुबले ही हों। पर उनके इतने सामान थे कि डब्बे के सब आदमियों को जड़ भरत बन जाना पड़ा। उन्होंने अपना सामान गिनना शुरू किया। कुल सत्रह अदद निकलीं। कुलियों से पूछा—"कुल अठारह रहीं न? घर से चलते समय मैंने सब सामान गिन लिया था। अठारहवीं चीज ढूँढ़ निकालो, तब पैसे दूँगा।"

बस, स्टेशन भर में तहलका मच गया। बाबू साहब की अठारहवीं चीज की खोज होने लगी। उसी समय मुझे एक कहानी याद आयी।

पाँच आदमी एक गाँव से कहीं जाने को विदा हुए। राह

में एक ने साथियों को गिनकर कहा "अरे, चार ही आदमी तो हैं—पाँचवें कहाँ गये ?" दूसरे ने भी गिना। तीसरे, चौथे, पाँचवें ने भी गिना। सब अपने आपको छोड़कर और सबको गिन लेते थे। अन्त में सबको निश्चय हो गया कि हमारा एक साथी खो गया। सबके सब रोने लगे। इतने ही में एक बटोही उधर से निकल पड़ा। उसने इन लोगों से पूछा कि रोते क्यों हो। इन लोगों ने उत्तर दिया कि हम पाँच आदमी गाँव से चले थे—अब चार ही हैं, एक न जाने कहाँ खो गया। उस बटोही ने उन्हें गिनकर कहा—"देखो, मैं तुम्हारे साथी को अभी ढूँढ़ निकालता हूँ—एक, दो, तीन, चार, पाँच, तुम पूरे हो गये।"

उन लोगों ने कहा "धन्य हैं आप—साथी मिल गया। चलो अब चलें।"

यह कहानी याद आने पर मैंने उक्त सज्जन से पूछा "भाई साहब ! आपने अठारह चीजें खुद गिनी थीं या आपकी स्त्री ने ?"

"मैंने खुद सब चीजें गिनी थीं—पर आपके सवाल का मतलब ?"

"यही कि यदि आपकी स्त्री ने गिना होता तो शायद अठारहवीं चीज आप खुद ही होते।"

"आप भी कैसी बे-सिर-पैर की बातें करते हैं। आदमी कोई चीज थोड़े ही है ?"

"सचमुच मनुष्य कोई चीज नहीं। आप सच्चे दार्शनिक हैं। इस असार संसार में बस लोटा, बिस्तर, बक्स, बाल्टी, छड़ी आदि ही तो चीजें हैं। मनुष्य तो केवल………"

"मिल गयी ! मिल गयी ! अठारहवीं चीज मिल गयी !" शोर मच गया कि चीज मिल गयी। सुनते ही सब कुली इकट्ठे हो गये। हमने तो कोई चीज मिलते न देखी।

बाबू साहब ने कहा, "अठारहवीं चीज है यह छड़ी, जो मेरे हाथ में है और जिसकी याद मुझे आपके छड़ी का नाम लेने पर आई।"

खैर, गाड़ी खुली। बाबू साहब ने मेरी ओर देखकर पूछा, "क्यों आपको कोई तकलीफ़ तो नहीं होती ?"

बचपन से सुनता आ रहा हूँ कि सच बोलना मनुष्य का धर्म है। इस समय इच्छा हुई कि सचमुच सच बोल दूँ, पर आदत से लाचार था।

मैंने कहा, "जी नहीं।" क्षण भर रहकर मैंने जोड़ दिया "अधिक नहीं।"

"खैर, आप घबराइये नहीं, मैं दो स्टेशन तक ही जाऊँगा।"

दो स्टेशन ! सिर्फ़ दो स्टेशन !! और इतना सामान ! मैंने ईश्वर को धन्यवाद दिया कि बाबू साहब को दो ही स्टेशन तक

जाना है। अगर कहीं इन्हें चार स्टेशन जाना होता, तो इनके सामान''''''

खैर। मेरे चारों ओर चीजें बिखरी पड़ी थीं। मैं सोच रहा था कि इनमें से कौन-कौन सी चीजें छोड़ूँ।

इसी समय एक मित्र आये। उन्होंने पूछा, "अरे, तुम कहीं जा रहे हो क्या?"

"बस, तुम्हारे सामने तो शरलाक होम्स भी मात हैं। तुम्हारे जैसे तीक्ष्ण बुद्धि वाले को तो जासूसी करनी चाहिये थी। मुझे बिस्तर बाँधते देख कितनी आसानी से तुम ताड़ गये कि मैं कहीं जा रहा हूँ।"

"ख़ैर, यह तो बतलाओ कि तुम कहाँ जा रहे हो?"

"काशी।"

"काशी?"

"हाँ काशी!"

"क्या कहा, काशी? यानी, बनारस?"

"जी हाँ, काशी यानी बनारस!"

"बस, तुम्हें तो हमेशा मजाक ही सूझता है।"

"भाई साहब, मैं इतना धनी नहीं कि खुशामद से खुश हो जाऊँ। मुझे कभी-कभी मजाक जरूर सूझता है, पर इस समय तो मुझे केवल तुम्हीं सूझते हो।"

"ख़ैर, अब ठीक ठीक बतलाओ कि कहाँ जा रहे हो ?"

"काशी।"

"काशी ? पर तुम तो अभी काशी में ही हो।"

"नहीं, मैं काशी में रहते हुए भी काशी में नहीं हूँ। मुझे काशी कहीं नहीं दिखलाई पड़ती, इसीलिये मैं काशी जाता हूँ। मैं मसूरी और दिल्ली होते हुए काशी पहुँचूँगा।"

"भाई ! तुम्हारी पहेली मेरी समझ में नहीं आती। ख़ैर, अब मैं चलता हूँ। चचाजी से मिलना है।"

इन्होंने समझा कि मैं केवल मज़ाक़ कर रहा हूँ। पर मज़ाक़ करना इतना आसान नहीं है। गम्भीर तो सभी रह सकते हैं। गम्भीर रहना बहुत ही आसान है। संसार के सब पशु गम्भीर रहते हैं। मनुष्य और पशु में—एक संस्कृत श्लोक के अनुसार—केवल ज्ञान का ही अन्तर है। पर पशुओं को भी ज्ञान होता है—केवल मनुष्य को ही नहीं। हाँ मनुष्यों में एक विशेषता है, जो पशुओं में नहीं। वह है हँसने की शक्ति। पर दुर्भाग्यवश हँसने वाले मनुष्यों की संख्या बहुत ही कम है। इतने बड़े हास्यास्पद संसार में रहने पर भी बहुत से लोग हँसने के बजाय रोते हैं—इससे बढ़कर हास्यजनक और क्या हो सकता है ?

जब आपके चारों ओर चीजें बिखरी पड़ी हों, घड़ी देखने से मालूम होता हो कि आज गाड़ी पाना मुश्किल है, ऐसे समय

यदि कोई साहब आपसे आकर पूछें कि क्यों जी कहीं बाहर जा रहे हो क्या, तो आपसे मनुष्यता की उम्मीद करना मनुष्यता के बाहर है। इसलिये मैंने उन्हें जो कुछ कहा वह मजाक में नहीं, बल्कि पूरी गम्भीरता के साथ।

लोग समझते हैं कि सफर का उद्देश्य घर से बाहर आनन्द पाना है। पर मैं समझता हूँ सफ़र का उद्देश्य है घर में आनन्द पाना।

एक बङ्गाली सज्जन को रोज शाम को स्टेशन की ओर जाते देखता था। कारण पूछने पर मालूम हुआ कि वे रोज अपने घर की ओर जानेवाली रेलगाड़ी को देखते हैं और सोचते हैं कि मैं भी एक दिन इसी रेल पर घर जाऊँगा।

मैंने पूछा कि आप घर जाते क्यों नहीं?

उन्होंने उत्तर दिया कि अभी मेरी छुट्टी पूरी नहीं हुई। छुट्टी पूरी होनेपर मैं घर जाऊँगा। तब तक मुझे घरकी याद में ही आनन्द आता है।

इससे यह न समझना चाहिये कि उन्हें किसी प्रकार का कष्ट था। या उनकी यात्रा असफल हुई। बाहर जाने का उद्देश्य ही यह है कि घर को लौटने की इच्छा उत्पन्न हो। आनन्द बाहर जाने में नहीं, बाहर से घर को लौटने में है।

बीती बातों को याद करने में हमेशा आनन्द मिलता है।

हम भी जब किसी सफ़र की याद करते हैं, तो यही सोचते हैं कि हमें उसमें बड़ा आनन्द आया। पर असली आनन्द हमें सफ़र में नहीं सफ़र से लौटने में मिला था।

सफ़र करते समय लोग समझते हैं कि हम अमुक स्थान को जा रहे हैं। पर असल में वे घर ही जाते हैं। अगर हमें कोई पूछता है कि तुम कहाँ जा रहे हो, तो हम, जितने स्टेशनों पर चार-पाँच मिनट गाड़ी रुकती है, सबका नाम नहीं लेते। फिर, अगर हम घर जाने की राह में किसी स्टेशन पर चार-पाँच हफ़्ते रुक भी जाँय, तो यह क्यों कहें कि हम वहीं जा रहे हैं।

सफ़र का उद्देश्य घर के बाहर जाना नहीं, घर के अन्दर जाना है। घर के अन्दर जाने का एक ही रास्ता है—घर के बाहर जाना। घर से बाहर होकर घर को लौटते समय घर से बाहर जाने जैसा आनन्द और उत्साह का अनुभव करना ही यात्रा का उद्देश्य है।

किसी भी यात्रा में—जीवन-यात्रा में भी—जो यात्री घर के बाहर के बाहरी सौन्दर्य को देखने में घर के भीतर के भीतरी आनन्द को भूल जाता है, वह यात्री सच्चा यात्री नहीं। बाहर को ही घर समझ लेने से, घर के बाहर जाने से क्या लाभ?

बैंक में

बङ्क तीन दिन से बन्द थे। गोल्ड स्टैंडर्ड बन्द हो जाने का क्या मतलब था यह किसी की समझ में नहीं आ रहा था। इस पर दो चार अर्थ-शास्त्रियों के लेख भी निकले थे पर वह भी हम लोगों के लिये समझना दुश्वार था। पर बङ्क बन्द है, यह हमलोग जानते थे। और क्यों बन्द है, इसीपर बहस हो रही थी।

इसी समय पण्डित गोवर्धनजी ने प्रवेश किया।

मैंने पण्डित गोवर्धनजी से कहा—'पण्डितजी, आपकी तनख्वाह तो सौ से ऊपर है। आपका रुपया तो जरूर बंक में होगा। अब आप ही जरा बंक के बन्द होने का कारण समझाइये।'

अन्तिम वाक्य को बिना सुने हुए ही उन्होंने कहा 'मेरा रुपया बंक में! हरे कृष्ण, हरे कृष्ण!'

मैंने पूछा—'क्यों आप बंक पर इतना नाराज क्यों हैं?'

'अभी बतलाता हूँ' कहकर उन्होंने एक कुर्सी खींच ली। फिर बायें गाल से पान को जीभ से हटा दाहिने गाल में रखकर कहना शुरू किया—

पहले मेरा वेतन पंचानवे था। पार साल भर नौकरी करने के बाद एक सौ कर देने की आज्ञा बड़े साहब ने दी। मैं दौड़ा हुआ बड़े साहब के पास गया और कहा कि या तो मेरा वेतन एक सौ एक कर दीजिये या निनानवे। अन्त का शून्य अवश्य हटा दीजिये। साहब ने कहा ऐसा होना सम्भव नहीं। मैंने कहा कि चाहे मुझे पदत्याग करने की अनुमति दीजिये अथवा मेरी प्रार्थना स्वीकार कीजिये। हम अपना धर्म नौकरी के लिये नहीं छोड़ सकते। आप मेरी प्रार्थना अस्वीकार करेंगे तो आपको महारानी विक्टोरिया की घोषणा का उल्लङ्घन करने का पाप लगेगा।

भला, मेरे सामने साहब कब तक अड़े रह सकते। उन्होंने कहा—"साल भर बाद तुम्हारी तनख्वाह एक सौ पांच होनेवाली है। तुम्हारे कहने से मैं एक आर्डर निकालता हूँ कि तुम्हारी तनख्वाह छ महीने तक पंचानवे ही रहे और इसके बाद वह एक सौ पांच कर दी जाय, तब तो तुम खुश होगे ?

मैंने साहब को झुककर सलाम किया। मैं तो पहले ही जानता था कि मेरी बात साहब मान जायँगे। यह बात मैं आप लोगों के लाभ के लिए कहता हूँ कि साहबों के साथ आप जितना ही डट जायँगे उतना ही वे ढीले पड़ जायँगे और जितना उनसे डरेंगे वे उतने ही भयंकर हो जायँगे।

खैर, छ महीने बीते। मेरी तनख्वाह एक सौ पाँच कर दी

गयी। फिर क्या था। मेरे मित्रों ने मुझे बधाई दी और मुझे बंक में रुपया जमा करने की सलाह देने लगे। मैं उस समय उनके चकमे में—ईश्वर करे उनका सब रुपया बंक में चला जाय—फँस गया।

दूसरे दिन मैंने अपने पाकेट में एक सौ पांच रुपये का नोट रखकर राम का नाम लेकर बंक में प्रवेश किया।

बंक के अन्दर मैंने क्या क्या देखा यह मुझसे न पूछिये। कारण मुझे कुछ भी याद नहीं। केवल एक बात याद है। पीतल के पींजड़ों के भीतर क्लर्कों को देखकर मुझे सहसा कलकत्ते के चिड़ियाखाने का एक चित्र, जो मैंने स्टेशनों पर देखा था, स्मरण हो आया।

मैं बड़ी चिन्ता में पड़ा। यहाँ आ तो गया पर क्यों आया यह नहीं मालूम। मुझे चुपचाप खड़ा देखकर लोग मुझे घेरने लगे। मैं उन लोगों को सभ्यता और शिष्टता पर कुछ उपदेश देने ही वाला था कि मुझे याद आया कि मैं रुपया जमा करने आया हूँ। झट एक वर्दीवाले चपरासी से जाकर कहा—मैं मैनेजर साहब से अकेले में मिलना चाहता हूँ। न जाने क्यों मैंने कहा—"अकेले में", खैर मैं मैनेजर के पास पहुँचाया गया।

उन्होंने मुझे बड़े आदर के साथ बैठाकर कहा—"कहिये आपकी क्या सेवा करूँ?"

मैंने कहा—"मुझे बंक में एक एकाउण्ट खोलना है ।"

"कोई बहुत बड़ी रकम है ? कितनी ?

मैंने गम्भीर बनकर कहा—"जी हाँ बहुत बड़ी रकम है ।"

उन्होंने जरा सोच समझकर कहा—"बात यह है कि आज-कल कारबार इतना मन्दा है कि हम बहुत बड़ी रकम का एकाउण्ट जल्दी नहीं खोलते। फिर भी यदि आप मुझे रकम का अन्दाज दें तो मैं "बोर्ड आव डाइरेक्टर्स" से इसके सम्बन्ध में सलाह मागूँगा ।"

मैंने कहा "महीने में एक सौ पाँच की मेरी आय है.........।"

"एक सौ पाँच हजार ? या एक सौ पाँच लाख ?"

"एक सौ पांच रुपये ! और मैं......"

"चपरासी ! बाबू को बाहर क्लार्क के पास ले जाओ ।"

इसके बाद क्या हुआ सो मुझे अच्छी तरह याद नहीं ।

इतना याद है कि थोड़ी देर बाद क्लार्क ने कहा—"अच्छा रुपये लाइये ! और इस फार्म पर अपने दस्तखत का नमूना दीजिये ।"

रुपये तो दे दिये ! पर हस्ताक्षर तो आज तक मुझे करने की कोई विशेष आवश्यकता पड़ी नहीं थी, फिर कैसा हस्ताक्षर

करूँ ? पर फार्म आगे पड़ा हुआ था, जैसे तैसे अपना नाम उस पर लिख दिया ।

फिर कोई आध घंटे तक बैठा रहना पड़ा जिसके बाद क्लर्क ने मेरे हाथ में एक पासबुक और एक चेकबुक दिया । मैं उन्हें लेकर घर आया । घर पहुँचने पर मुझे स्मरण आया कि व्यय के लिये तो अपने पास कुछ भी नहीं । मैं झट चेक बही लिये फिर बंक को दौड़ गया, पर तबतक बंक बन्द हो चुका था ।

दूसरे दिन आठ बजे सवेरे ही बंक गया पर वहाँ दरबान ने कहा कि दस बजे के पहले काम नहीं हो सकता । दो घंटे इन्तजार में रहा । दस बज चुकने पर एक एककर बंक के कर्मचारी पहुँचने लगे । मैं फिर उसी क्लर्कके पास पहुँचा और पाँच रुपये का चेक झट लिखकर रुपये के लिये हाथ बढ़ाया । कुछ देर तक चेक देखकर क्लर्क ने मुझे दूसरे क्लर्क के पास भेजा । उसने गौर से चेक देखकर चेक वापस कर दिया और कहा "आप का चेक कैश नहीं हो सकता, कारण नम्बर ३ और ७ देखिये ।" यह कहकर मुझे उसने एक स्लिप दिया । कारण नम्बर ३ के अनुसार २०) से कम का चेक नहीं लिया जाता और कारण नम्बर ७ में लिखा था कि दस्तखत असली दस्तखत से नहीं मिलता ।

अब मुझे स्मरण आया कि जल्दी में मैंने पूरा दस्तखत नहीं करके सिर्फ 'इनीशियल्स' भर किया था । इसलिये २५)

का चेक दस्तखत करके दिया। पर चेक देखते ही क्लर्क बोल उठा "अरे आप सब रुपये निकाल रहे हैं?"

सचमुच, न जाने कैसे मैंने १०५) का चेक लिख दिया था। फिर भी मैंने गुस्साया चेहरा बनाकर कहा "हाँ"।

"पर तीन महीने के अन्दर ही आप एकाउण्ट बन्द कर रहे हैं इसलिए एक रुपया कमीशन कट जायगा।"

फिर आध घंटे बैठने के बाद मैं रसीद लेकर वहाँ गया जहाँ रुपये गिन गिनकर लोगों को दिये जाते थे। वहाँ भी आध घंटे तक इंतजार करने के बाद मेरे हाथमें गिन कर एक सौ चार रुपये दिये गये (मैंने नोट दिये थे) और मैं उन्हें अपने जेबों में भर झनझन करता हुआ बंक के बाहर निकल पड़ा।

बंक के फेर में पड़कर मैं उस दिन दफतर भी न जा सका। दूसरे दिन साहब ने गैरहाजिरी का कारण पूछा तो मैंने कहा कि बंक में काम था। बंक का समय ही ऐसा है कि स्कूल, कालेज, दफ्तर, कचहरी वगैरह का काम छोड़े बिना बंक का काम नहीं हो सकता। साहब ने कहा कि अच्छा मैं इसपर एक लेख लिखूँगा। पर लिखा नहीं।

क्यों जी तुम भी तो अखबारों में कभी कभी लिखते हो। तुम क्यों नहीं लिखते?

मैंने कहा "जैसी आज्ञा।"

निन्दा की प्रशंसा

मेरे एक मित्र हैं, जिनसे मेरी अकसर लड़ाई हो जाया करती है। फिर भी वह मेरे मित्र हैं, क्योंकि खेलाड़ी की तरह हम लोगोंकी लड़ाई, लड़ाई ही रहती है, झगड़े में परिणत नहीं हो जाती। हम लोगों के भावों में भेद रहने पर भी भेद का भाव नहीं रहता। कारण हम दोनोंके विचार स्वतः उत्पन्न होते हैं, कोई महत्वपूर्ण विचार उत्पन्न करने के विचार से नहीं। जब कोई दार्शनिक या साहित्यिक या राजनीतिक किसी दूसरे को अपने से सहमत नहीं पाते, तो वह तुरन्त उसे अपना विरोधी नहीं शत्रु समझ लेते हैं और लड़ने की जगह झगड़ने लगते है। इनका अपना अस्तित्व इनके विचारों के अस्तित्व पर निर्भर होता है। इसलिये अपने विचारों के विरोधी को ये अपना व्यक्तिगत शत्रु समझ लेते हैं। पर, हमारी—और मैं आशा करता हूँ आपकी भी—दशा बिलकुल विपरीत है।

किसी विषयपर मतभेद होने से नेताओं में वैमनस्य हो सकता है, पर हममें और हमारे पड़ोसी में नहीं। हमारे विचारों का अस्तित्व हमारे अपने अस्तित्व पर निर्भर करता है, और उनका अपना अस्तित्व उनके विचारों पर। हम जीते हैं

इसलिये सोचते हैं, वे जीने के लिये सोचते हैं। सोचना हमारा स्वभाव है और उनकी वृत्ति। इसीलिये लड़ाई होनेपर भी मेरे मित्र मित्र ही रहते हैं।

एक दिन मैंने अपने इन्हीं मित्रके सामने किसी को निन्दा के कुछ शब्द कहे। बस, फिर लड़ाई शुरू हो गई। मेरे मित्र ने कहा कि हम लोगों को दूसरों के गुण-दोष देखने का कोई अधिकार नहीं और शक्ति भी नहीं, इसलिये किसी की आलोचना करना और किसी को दोषी ठहराना बुरा है। बस इसी बात पर मतभेद हुआ।

ऐसे बहुत से सज्जन हैं, जो मेरे मित्र से इस विषय में सहमत हैं। वे सहृदयता और दया की दुहाई देते हैं। वे कहते हैं कि हम मनुष्य हैं, अपने ही समान दूसरे मनुष्यों की त्रुटियों के लिये हम उन्हें अपराधी किस प्रकार ठहरावें? इसके उत्तर में यदि किसी ने पूछा कि यदि कोई आपका गला काटने आवे तो आप उसे कोई सजा न देंगे? तो वे कहते हैं कि हम समाज की रक्षा के लिये उसे सजा तो देंगे पर दोषी न कहेंगे, क्योंकि हमें ऐसा करने का कोई अधिकार नहीं। दया की दुहाई देने वालों के मुँह से ऐसी बात सुनकर चोर और खूनी भी यह कह सकते हैं कि हमें दोषी ठहरा लीजिये, पर सजा न दीजिये तो अधिक दया हो। खैर।

पर इस उत्तर से एक दूसरा प्रश्न उठता है। हम यह क्यों कर जान सकते हैं कि अमुक व्यक्ति ने यह काम कर समाज की हानि की? संभव है चोर और खूनी भी ईश्वर के किसी महान उद्देश्य की सिद्धि के निमित्त मात्र ही हुए हों।

हम तो समझते हैं कि असली मनुष्यता इसी में है कि हम मनुष्य हैं, इस बात को भूल जायँ। मनुष्यता के प्रदर्शन में आवश्यकता है साहस की, आत्मविश्वास की। यह स्मरण रखने से कि हम साधारण क्षण-भंगुर मनुष्य हैं, हममें पूरी मनुष्यता नहीं आ सकती। ईश्वर की भय से या स्वर्ग की कामना से जब हम किसी पर दया करते हैं, तो हम अपनी मनुष्यता नहीं कायरता और लालच प्रकट करते हैं। दया करने का अधिकारी तो केवल वीर ही है। जब हम अपने को देवता समझकर सर्वशक्ति सम्पन्न समझकर मनुष्योचित आचरण करते हैं, तभी हम असली मनुष्यता दिखलाते हैं।

अत: जो मनुष्य यह कहते हैं, कि हम मनुष्य होने के कारण मनुष्यों की निन्दा नहीं कर सकते, वे मनुष्यता से बहुत दूर हैं। हम स्वयं दोष करते हैं, इसलिये हम दूसरों के दोषों को न देखें, यह कहना तो वैसा ही है, जैसा कि यह कहना किडाक्टर या वैद्य स्वयं बीमार पड़ते हैं, या पड़ सकते हैं, इसलिये उन्हें बीमारों का इलाज करने का अधिकार नहीं। वृद्ध शक्तिहीन अधमरा-सा

होने पर भी वैद्य हट्टे कट्टे नौ जवानों की बीमारी छुड़ा सकता है—स्वयं मरणासन्न होने पर भी दूसरों को मृत्यु से बचा सकता है। यदि दवा देते समय वैद्य या हकीम यह सोचने लगे कि मैं तो खुद बीमार पड़ता हूँ और किसी दिन मर भी जाऊँगा, फिर मुझे दूसरे बीमारों को दवा देने का क्या हक, तो...... !

साहित्यक समालोचना में, उससे भी बढ़कर न्यायालयों में—जहाँ बहुत बढ़कर साहित्यक समालोचनाएँ पहुँचती हैं—निष्पक्षता की बड़ी प्रशंसा की जाती है। समालोचक और न्यायाधीश दोनों को निष्पक्ष सम्मति देने को कहा जाता है, पर सम्मति देना ही तो पक्ष लेना हो जाता है, फिर सम्मति निष्पक्ष कैसी ?

और यदि यह कहा जाय कि समालोचक और न्यायाधीश को आरम्भ में निष्पक्ष रहना चाहिये, तो यह भी भ्रम पूर्ण है। यदि कोई जातीय या वर्गीय द्वेष या राग हो तो बात दूसरी है, नहीं तो यदि कोई व्यक्ति किसी विषयके सम्बन्धमें पहले से कोई विचार रखता है तो इसीलिये उसे उस विषय पर विचार करने के अयोग्य नहीं कह सकते। निष्पक्षता बहुधा मानसिक शिथिलता की निशानी होती है।

उदाहरणार्थ छायावादी कविता के सम्बन्ध में निष्पक्ष वे ही हो सकते हैं जिन्होंने उसे पढ़ा ही नहीं या जिनमें उसे पढ़ने की

शिक्षा नहीं। पूर्ण रूप से निष्पक्ष होने पर भी, अथवा पूर्ण रूप से निष्पक्ष होने के कारण ही, वे छायावादी कविता पर उचित सम्मति नहीं दे सकते। जिस मनुष्य के किसी विषय के सम्बन्ध में कुछ विचार हैं, वही उस विषय पर विचार कर सकता है—कारण जिसने एक विचार धारण किया है, वही अधिक विचार करने पर आवश्यकता पड़ने से उस विचार को बदल भी सकता है। यदि हम किसी विषय में पूरे निष्पक्ष हैं तो इसका यही मतलब है कि हम उस विषय में दिलचस्पी नहीं लेते और उससे अनभिज्ञ हैं। उदाहरणार्थ अफरीका के जंगल में रहनेवाला हबशी महायुद्ध के कारणों के सम्बन्ध में कोई विचार नहीं रखता तो इसका मतलब यह नहीं कि उन कारणों के अन्वेषण के लिये वही सबसे योग्य होगा। निष्पक्षता के पक्षपाती किसी व्यक्ति को किसी विषय पर विचार करने के अधिकार से केवल इसीलिये वञ्चित करना चाहते हैं कि उसपर विचार करने की शक्ति के प्रमाण स्वरूप उसके पास कुछ विचार पहले से हैं।

हम अपने मित्रों के सम्बन्ध में निष्पक्ष नहीं रह सकते। कारण, उनसे हमारी दिलचस्पी होती है। अतः हमें उनकी प्रशंसा और निन्दा दोनों जी खोल कर करनी चाहिये। पर यदि हम चाहें तो उनकी प्रशंसा नहीं भी कर सकते। प्रशंसा करना

उतना प्रशंसनीय नहीं। प्रायः देखा जाता है कि जिसकी जितनी प्रशंसा की जाती है वह उतना ही कम प्रशंसनीय हो जाता है। अतः अपने मित्रों की ही क्यों जिन लोगों से हमारा विशेष सम्पर्क रहता है उन सब की निन्दा करना नितान्त आवश्यक है। आवश्यकता पड़ने पर भी यदि किसी की निन्दा न करें तो भीतर ही भीतर हम में उसके प्रति घृणा उत्पन्न हो जायगी।

प्रशंसा की प्रशंसा और निन्दा की निन्दा करनेवाले यह नहीं समझते कि निन्दा भी एक उत्कृष्ट प्रकार की प्रशंसा है। जब हम किसी को कायर कहते हैं तो हम उसकी प्रशंसा ही करते हैं, कारण हमारा भाव यह होता है कि साहसी और वीर बनने के लिये उसमें सब गुण मौजूद हैं तो भी उन्हें भुलाकर कायर क्यों बना हुआ है। द्रौपदी ने अपने पति युधिष्ठिर की घोर निन्दा और भर्त्सना की। उसका उद्देश्य उनमें वीरोचित गुणोंका उद्दीपन करना ही था। इसी प्रकार जब हम किसी को झूठा कहते हैं तो हमारा उद्देश्य सत्यवादी हरिश्चन्द्र बनने की उसकी शक्ति की ओर उसका ध्यान आकृष्ट करना ही रहता है। जब हम किसी को दुष्ट कहते हैं, तो हम केवल उसको उसकी सहज सज्जनता की याद ही दिलाते हैं।

निन्दा केवल मनुष्य की ही की जाती है। दूसरे प्राणी निन्दा रूपी प्रशंसा के अधिकारी नहीं। कोई मनुष्य यदि सारे

शरीर में मिट्टी लगा ले तो हम उसे गन्दा कहकर उसकी निन्दा करेंगे कारण साफ रहना मनुष्य का स्वभाव है! पर किसी सूअर को विष्ठा में लेटता देखकर भी उसकी निन्दा न करेंगे। यदि आप किसी अबोध बच्चे को सकारण भी मारें तो लोग आपकी निन्दा करेंगे, पर यदि किसी बच्चे को कोई पशु अकारण भी मारे तो भी कोई उसकी निन्दा न करेगा। चन्द्रमा इतने उज्वल हैं कि तनिक कालिमा भी उनके लिये कलंक है। साधारण नक्षत्रों के निष्कलंक होने पर भी उनकी कौन गणना? जीवन भर में भी एक ही झूठ बोलें तो हमारे लिये प्रशंसनीय समझा जाय, पर यही बात युधिष्ठिर के लिये निन्दनीय समझी गयी। चन्द्रमा नक्षत्रों से और युधिष्ठिर हमसे अधिक प्रशंसनीय हैं, इसीलिये अधिक निन्दनीय भी हैं।

बिना महत्ता के कोई नीच नहीं कहलाता। जो जितना ही महान् जितना ही प्रशंसनीय होता है, वह निन्दा का उतना ही अधिक अधिकारी होता है। निन्दा बहुत बड़ी प्रशंसा है। निंदा सब देवताओं को भी सहज में प्राप्त नहीं, केवल भगवान विष्णु भृगुलाञ्छन हैं और मृत्युञ्जय महादेव नीलकंठ।

मैं निन्दा की प्रशंसा करता हूँ।

रात का सफर

डिब्बे-भर में मैं ही जाग रहा था। सोने के लिए काफी जगह होते हुए भी मैं जाग रहा था। न जाने क्यों? जरा कभी झपकी सी आती भी तो स्टेशन पहुँचते ही फिर चौकन्ना हो उठता। चोरों के डर से नहीं। मेरे पास सामान नहीं के बराबर था। पर फिर भी—

शायद, रात को अपनी नींद हराम करके इंजिन चलाने-वाला ड्राइवर यह सोचता था कि गाड़ी भर में कितने ही रईस, साईस, जमींदार, पाकेटमार, लेखक, विद्यार्थी, मजदूर, भिखारी, सब चैन से सोये हैं और मैं अकेला यहाँ जागकर उन लोगों को जहाँ जाना है लिये जा रहा हूँ। अच्छा, मैं उन्हें अभी दिखाए देता हूँ कि गाड़ी भर में एक आदमी जाग रहा है।

बस स्टेशन पर आते ही वह बिना चाल धीमी किये हठात् गाड़ी रोक देता, जिसके धक्के से मुझे जो कुछ जरा नींद आई भी रहती वह गायब हो जाती।

महादेवपुर वाले मुकद्दमे में मेरी ही जीत हुई, कपड़े की दर सस्ती हो गई और मैंने सात कुर्ते, तेरह पतलून, और ग्यारह कोट बनवाए, दफ्तर में मुझसे ऊँचे ओहदे पर काम करनेवाला

बेईमानी करने में पकड़ा गया (अच्छा हुआ मैं तो उसे सब दिन से बेईमान समझ रहा हूँ) और मुझे उसकी 'पोस्ट' मिलने को है, मैंने जो लाटरी में एक रुपया लगाया था उससे मोटर साइकिल मेरे ही नाम निकली है (चढ़ना तो मुझे आता नहीं पर बेच लूँगा), इत्यादि अनेक सुन्दर स्वप्न मैंने देखने शुरू किये, पर बीच में ही ड्राइवर मुझे जगा देता । कुछ मिनट बाद स्टेशन से गाड़ी निकलती, "फ फ् फ फ् सट् सट्, फ फ् फ फ् सट् सट् फू...टी......कि...स्मत, फूटी किस्मत, फूटी किस्मत" की ध्वनि करती हुई ।

रात को जब सब कोई सो रहे हैं, उस समय रेलगाड़ी के डिब्बे का दृश्य और गन्ध—खासकर गन्ध—अवर्णनीय होती है । यदि सर्दी पड़ती हो और सब खिड़कियाँ (कम-से-कम वे जो एक आदमी की ताकत से बन्द की जा सकती हों) बन्द हों, तब अकेला जगे रहने पर ऐसा मालूम होता है कि आप एक ऐसे जेल में हैं जहाँ तिकड़म नहीं चलता अथवा एक ऐसे दफ्तर में हैं जहाँ न वेतन ज्यादा है न रिश्वत ही मिलती है ।...

हठात्, इच्छा हुई कि कुछ पढ़ना चाहिये । सफर के पहले ही मैंने लाइब्रेरियन साहब से खानगी तौर पर चार किताबें माँगली थीं, क्योंकि मैं मेम्बर नहीं था और रहता भी तो दो ही मिलतीं ।

वैसे तो मैं किताब का प्रेमी नहीं हूँ। खरीदकर पढ़ने के लिए पैसे नहीं और पुस्तकालयों में जितनी अच्छी किताबें रहती हैं, हमेशा पुस्तकालय से बाहर ही रहती हैं। फिर पढ़ूँ तो क्या और कैसे? पर सफ़र में कुछ किताब रहने से इज्जत बढ़ती है। लोग समझते हैं कि हम साहित्य-प्रेमी हैं, शिक्षित हैं, सभ्य हैं। हाँ ऊँचे दर्जे में सफ़र करने के लिए अपनी किताबों की जरूरत नहीं। आप किसी साथ सफर करनेवाले सज्जन की किताब, उनकी ओर देखकर मुस्किराकर उठा लीजिये। फिर आप शौक से राह भर पढ़िए। किताबवाले को बाहर के सुन्दर दृश्य देखने का मौक़ा दीजिए, और फिर उतरते समय—धोखे से—किताब लेकर चलते बनिए। इसके लिये किताबवाले को अधिक दुःख न होगा, क्योंकि उसे भी यह किताब शायद इसी तरीके से मिली होगी। पर अपनी किताब ऊँचे दर्जे में न ले जाइएगा—मेरी राय में तो आप अपने आपको भी ऊँचे दर्जे में जल्दी न ले जाइएगा—और यदि धोखे से ले भी जाइए तो उसे वज्र-मुष्टि से पकड़े रहियेगा। आप 'लेवेटरी' तक में उसे ले जा सकते हैं—इससे आपकी प्रतिष्ठा और भी बढ़ेगी। पर यदि अपनी किताब हो—माँगनी की नहीं तो उसे हर्गिज न छोड़िएगा। (मैं यह इसलिए जानता हूँ कि एक मुकद्दमे में गवाही देने के लिए, नौसिखिया होने के कारण सेकेण्ड क्लास का भाड़ा लेकर मैंने सचमुच सेकेंड

क्लास में ही सफर किया था।)

खैर मैंने चारों किताबें निकालीं। एक थी कविता की। साथ में शब्द-कोष न रहने के कारण उसे न पढ़ सका। दूसरा एक मौलिक उपन्यास था, पर कुछ पृष्ठ पढ़ने के बाद मालूम हुआ कि मैं इसे बँगला में पढ़ चुका हूँ। तीसरा एक नाटक था। पढ़ना शुरू किया। नायक और नायिका गाना गाकर बातें कर रहे थे। पर मुझे गाना पढ़ना—सुनना नहीं—नापसन्द है। अतः मैंने चौथी किताब निकाली। इसकी मैं बहुत प्रशंसा सुन चुका था। यहाँ तक कि अनेक हिन्दी न जाननेवाले महापुरुषों ने भी उसकी मुक्त-कंठ से प्रशंसा की थी। पर किताब खोलने पर मालूम हुआ कि यह उसी नाम की दूसरी पुस्तक है। नहीं तो इतनी भद्दी कैसे होती कि मैं दो पृष्ठ पढ़ने के बाद ही ऊब-कर उसे रख देता? फिर एक नाम की यदि अच्छी किताब निकल जाए तो उसी नाम की दूसरी किताब निकालना कोई बुरी या नई बात तो है नहीं।

(पर पीछे मुझे मालूम हुआ कि वास्तव में वह हिन्दी न जाननेवालों को भी अपनी भाषा-शैली से मोह लेनेवाली पुस्तक ही थी।)

किताब की ओर से निराश होने के बाद फिर समय बिताने का उपाय सोचने लगा। डिब्बे की छत के, इसके बाद दीवारों

के तख्ते गिनना शुरू किया। पर यह भी कुछ देर के बाद समाप्त हो गया। एक खिड़की कोशिश करने पर भी बन्द न कर सका था, उसे ही बन्द करने के लिए फिर कोशिश करने लगा। इसमें भी असफल हुआ। बाहर दृश्य देखने की चेष्टा की, पर बिलकुल अँधेरा था। इच्छा हुई कि कुछ गाऊँ। एकान्त है। कोई हँसनेवाला नहीं। पर फिर यह सोचकर डरा कि इतने लोग सोये हुए हैं। कहीं नींद टूट जायगी तो हँसने की कौन कहे मुझे मारने दौड़ेंगे। फिर वह मोटा आदमी, जिसके हाल में ही मुड़ाए गए सिर के छोटे बालों में मिट्टी और गले में काली बद्धी बँधी हुई है अतः अवश्य ही कोई पहलवान है, कहीं जागा तो? पर उसके सिवा और कोई मजबूत नहीं। मैं मजबूत होता तो जरूर पहलवान बनता। सेठजी मोटे जरूर हैं, पर इनकी नींद भी मोटी है। और यदि जाग भी जाएँगे तो बिगड़ने की शक्ति इनमें कहाँ। तो गाना शुरू करूँ? पहलवान साहब कुछ दूर पर हैं, वे जाग नहीं सकते। सबसे नजदीक हैं सेठजी जो जागकर भी कुछ नहीं कर सकते। अच्छा यही सही। क्या सही! कुश्ती लड़ूँ पहलवान से? नहीं सेठ से! अरे नहीं गाना। हाँ, गाना।

गाड़ी स्टेशन पहुँची। मैं चाय पीने के खयालसे नीचे उतरा। अभी रंगीन कड़ुए गरम पानी का एक घूँट ही पी पाया था कि इतने ही में गाड़ी खुली। मैं गाड़ी की ओर दौड़ा। झट

चायवाले ने मुझे पकड़ा और कहा "पैसे निकालो तब भागना।" मैं पैसे को बड़े यत्न से कमर में रखता हूँ झट कमर में हाथ दिया। पर पैसे न मालूम क्या हो गए थे? इधर-उधर जल्दी-जल्दी टटोलने के बाद सिर्फ एक चवन्नी मिली। चायवाले को दी। पर तब तक गाड़ी गायब हो चुकी थी। चायवाले ने ग्यारह पैसे वापस किये और कहा 'एक पैसा मेरे पास कम है। यदि आप चाहें तो एकन्नी दीजिए तो मैं चवन्नी वापस कर दूँ। नहीं तो एक पैसे कम से ही संतोष कीजिए।' इत्यादि।

पर मुझे यह सुनने की फुर्सत न थी। मैं अकेला था। पाकेट में ग्यारह पैसे थे। स्थान अपरिचित था। याद आया कि इस स्थान का नाम भी मुझे नहीं मालूम है। स्टेशन पर नाम पढ़ा। नाम था—पर नहीं। नाम मैं नहीं बताऊँगा। इतना अवश्य कहूँगा कि नाम पढ़कर मुझे प्रसन्नता हुई। कारण यहाँ की सेवा-समिति को मैंने कभी चार आने पैसे चन्दा दिया था। सवेरा होना ही चाहता था। मैं बाहर निकला। सोचा किसी पढ़े-लिखे आदमी से सेवा समितिवालों का पता पूछूँगा। पर याद आया कि पढ़े-लिखे आदमी के उठने के समय में अभी कम से कम दो घंटे की देर है।

खैर किसी तरह पूछताछ करता हुआ सेवा समिति के दफ्तर में पहुँचा। साइन बोर्ड बड़ा ही सुन्दर था। पर उसमें

लिखा हुआ था 'समय दस से चार'। शायद यहाँ दस से चार के अन्दर ही 'सेवा' की जरूरत होती हो।

दस बजे—

मैंने दफ्तर में प्रवेश किया। मालूम हुआ कोई घंटे भर में सेक्रेटरी साहब आ जायँगे।

कुछ देर और बैठा। सेक्रेटरी साहब पधारे। मैंने अपनी राम-कहानी उन्हें सुनायी।

उन्होंने पूछा—पर मैं कैसे विश्वास कर सकता हूँ कि जो आप कहते हैं वह बिलकुल सच है, आप कुछ प्रमाण दे सकते हैं?

"जी नहीं! गाड़ी खुल जाने के कारण मैं गार्ड साहब से सर्टिफिकेट न ले सका। अगर समय रहता तो मैं जरूर उनसे लिखा लेता कि मैं गाड़ी पर समय के अभाव से न चल सका?"

"ऐसी हालत में मैं मजबूर हूँ। न जाने कितने लोग ऐसे ही आकर झूठ-मूठ स्वांग भर कर पैसा ठग ले जाते हैं।"

मैं गुस्से से आग बबूला हो गया। कहा—कभी कभी होटलों में खा लेने से मेरी ब्रह्म-शक्ति नष्ट नहीं हो गयी, मैं शाप देता हूँ कि······

मेरे मुँह से ये शब्द निकलते न निकलते भारी भूकम्प हुआ।

सेवा समिति आदि सभी क्षणभर में मिट्टी में मिल गये। मैं भी गिर पड़ा।

किसी ने मुझे हिलाकर जगाया। मैंने आँखें खोलीं। सामने ये कौन हैं? क्या मैं मर गया? ये यमदूत तो नहीं? पर चेहरा कुछ परिचित-सा है। अरे, ये तो वही गाड़ीवाले सेठजी हैं! ये जरूर मेरी कुछ सहायता करेंगे।

मैंने कहा—सेठजी—

उन्होंने कहा बाबू साहब! जरा देखो तो कूण सा इष्टेसण ऐ? मुगलसराय तो नहीं ऐ? मुझे बणारस जाणा ऐ।

"मुझे भी बनारस ही जाना है। अरे यह तो सचमुच मुगलसराय है! कुली......अरे ओ कुली......!"

वर्षा की आशा

कई महीनोंके बाद इधर कई दिनोंसे बीच बीचमें पानी बरस जाता है। बहुत दिनोंकी प्यासी पृथ्वी पानी पी रही है। प्रकृति ने अपने भिश्तियों को आज्ञा दी है कि सारे संसार को धो डालो—धुलाई आरम्भ हो गयी है।

मेरा विश्वास है कि साम्यवाद के सिद्धान्त की उत्पत्ति वर्षा ऋतुमें ही हुई थी। इस प्रकार पानी बरसने से सबको संतुष्ट होते देख मेरे मन में भी साम्यवादी विचार उठते हैं। यदि ये बादल पानी न बरसा कर कोई दूसरी चीज की वर्षा करते तो? गर्मी के बाद मनुष्य पानी के लिये लालायित रहता है और ये बादल पानी बरसाकर मनुष्य को तृप्त करते हैं। पर क्या मनुष्य की और चीजों की कमी किसी ऐसे ही उपाय से पूरी नहीं हो सकती? मनुष्य को सबसे अधिक आवश्यकता रहती है धन की। क्या कोई ऐसा प्रबंध नहीं हो सकता जिससे प्रत्येक मनुष्य को आवश्यकतानुसार धन मिल जाय?

प्रश्न के साथ ही मेरे मन में उत्तर भी आया—साम्यवाद!

वर्षा और साम्यवाद में कितनी समता है। पहले बादल का एक टुकड़ा किसी कोने में दिखलाई पड़ता है—वह है अकेला और कमजोर। हवा के हर एक झोंके में वह तितर-बितर हो

जाता है। पर धीरे-धीरे बादल के दूसरे तीसरे टुकड़े आ आकर उसका साथ देते हैं—उसकी वृद्धि होती है। इस तरह बढ़ने पर भी कभी कभी हवा का वेग उसे उड़ा देता है। पर वह फिर लौट आता है। धीरे-धीरे सारा आकाश बादलों से भर जाता है। क्रांति की तैयारी पूरी हो जाती है। फिर दोनों दलों में युद्ध आरंभ होता है। बिजली की चमक और कड़क से संसार थर्रा जाता है। अन्त में बादलों का परिश्रम सफल होता है। जल-भाण्डार पर उनका कब्जा हो जाता है और पृथ्वी की प्यास बुझती है।

पर इसके पहले न मालूम कितनी बार समूची पृथ्वी आशा भरी आँखों से ऊपर देखती है।

अनेक बार हम उमड़ते बादलों को देख कर सोचते हैं कि आज वर्षा होगी। पर वर्षा नहीं होती—हमारी आशाएँ अनेक बार विफल होती हैं।

यही कारण है कि पहली बरसात में हमें इतना आनन्द होता है। आशाएँ यदि विफल न हों तो हमें किसी आशा के सफल होने से आनन्द न हो। विफलता की आशंका ही आशा को सफलता से पृथक् करती है। यदि विफलताकी आशंका न हो तो प्रत्येक आशाको हम सफलता ही समझने लगेंगे। अतः हमें आशाकी सफलता में आनन्द न होगा। क्योंकि तब आशा

की सफलता होगी ही नहीं—सफलता की ही सफलता होगी। उसमें आनन्द कैसा ?

जब हम बीज बोते हैं तभी अगर हमें निश्चय हो जाय कि हम इसके फल खायेंगे ही, तो हम उस बीज की सेवा भी न करेंगे, तथा उसका फल पाने से प्रसन्न भी न होंगे। ग्वाला जब गाय दुहने बैठता है तो उसके मनमें किसी प्रकार की आशा नहीं रहती। दूध पाने का उसके मनमें पक्का यकीन है न कि नाजुक उम्मीद। यदि उसे दूध न मिले तो शायद उसे दुःख या गुस्सा हो सकता है, पर दूध मिलने पर उसे किसी प्रकार का आनन्द नहीं होता।

मेरे एक मित्र हैं जिन्हें अपना भविष्य जानने की बड़ी इच्छा रहती है। 'भृगुसंहिता' वालों की तो उनके पास एक बहुत ही लम्बी सूची है। वह हरएक से अपने तीन जन्मका हाल पूछ चुके हैं—सबने सब तरह की सम्मति उनके भविष्य के सम्बन्ध में दी है—यहाँ तक कि मानव जीवन में ऐसी कोई भी घटना नहीं जो किसी न किसीने उनके भविष्य में न पायी हो। फलतः उनके जीवन में जो कुछ भी होता है उसकी भविष्यवाणी कोई न कोई अवश्य किये रहता है। और जब जिसकी 'भविष्यवाणी' सच निकलती है तब वह उसी पर विश्वास करने लगते हैं, जब तक कि वह झूठा और कोई दूसरा सच्चा प्रमाणित न हो जाय।

पर ईश्वर ने मनुष्य के भविष्य को अन्धकार में क्या यों ही छिपाया है ? यदि संसार की सब घटनाएँ किसी ज्ञात शृंखला के अनुसार घटने लगें तो जीना भार हो जाय। आशा, भय और आश्चर्य ये ही तीनों जीवन को निर्जीव होने से बचाते हैं। जीवन में हमें नवीनता मिलती है इसीलिये हमें जीने में आनन्द मिलता है। पर यदि भविष्य को हम साफ-साफ देख सकें जैसा हम भूत को देखते हैं—यदि हम आनेवाली बातों को बीती बातों की तरह याद रख सकें—तो हमें संसार में कोई नया अनुभव न होगा, और हमारी वही दशा होगी जो बच्चों के साथ बैठाकर गुणा भाग सिखाने से न्यूटन की होती। हम मनुष्य नहीं, समय की सूई से बजनेवाले ग्रामोफोन के रेकर्ड हो जायँगे। यही कारण है कि आशा से—अतः संसार के सुख दुःख से—परे केवल ऋषिगण ही भविष्य को देख सकते थे।

जब किसी के बच्चे की मृत्यु होती है तो वह समझता है कि संसार में ईश्वर ने कम से कम एक ऐसी चीज बनायी है जिसमें बुराई ही है, भलाई नहीं। पर वास्तव में ऐसी बात नहीं। यदि सभी बच्चे नब्बे वर्ष तक जीवित रहने लगें तो कोई उनकी सेवा न करे, उनसे प्रेम न करे, वे बच्चे रहेंगे ही नहीं, बुड्ढे होकर ही पैदा होंगे। उनको भयंकर से भयंकर बीमारी होने से भी लोग दुखी न होंगे, क्योंकि लोग सोचेंगे कि चंगा होना तो इनके लिये अनिवार्य है।

ग्रीस देश का एक दार्शनिक अपने लड़के की मृत्युपर शोक कर रहा था। उसके एक मित्र ने कहा "तुम शोक क्यों करते हो—शोक करना व्यर्थ है।"

दार्शनिक ने उत्तर दिया "मैं इसीलिये शोक करता हूँ कि शोक करना व्यर्थ है।"

ले हन्ट का कहना था कि बच्चे की मृत्यु पर शोक न करना चाहिये, क्योंकि जिसका बच्चा मर जाता है उसका बच्चा बच्चा रूप में ही सदा उसकी स्मृति में जीता रहता है। पर जिसका बच्चा जीता रहता है उसका बच्चा तो असल में मर जाता है और उसके स्थान में एक आज्ञा में न रहनेवाला युवक आता है जो सदा जी दुखाता रहता है।

इस तर्क से शायद किसी दार्शनिक को सन्तोष हो सकता है—पर जिसके बच्चे की मृत्यु हो गयी है उसको शायद ही धैर्य हो। बच्चे की मृत्यु से होनेवाला शोक किसी तर्क से कम नहीं हो सकता। क्योंकि संसारमें आशालतिका के मुर्झाने से होने-वाले दुःख की आवश्यकता है—पनपती हुई लतिका से सुख पाने के लिये।

पहले जब बादल अपना सूरत दिखा और ललचा कर चले जाते थे तो हमें कितना दुःख होता था—पर उससे न जाने कई गुना अधिक सुख हुआ जब पहली बार वर्षा हुई। अब रोज

बादल रहते हैं—रोज थोड़ा बहुत पानी भी बरसता है—अब लोग वर्षा की आशा नहीं करते—जानते हैं कि वर्षा होगी ही।

बस, वर्षा की आशा का आनन्द समाप्त हो गया। गर्मी की तरह वर्षा भी एक कठिनाई हो गयी, जिससे बचने के लिये लोग रबड़ के जूते, सुन्दर छाते और बरसाती खरीदने लगे हैं।

पर अब भी कितने ही स्थान ऐसे होंगे जहाँ लोग वर्षा की आशा में व्याकुल हो रहे हैं। बस इसीसे मुझे सन्तोष है कि अब भी कुछ लोग ऐसे हैं जो सुख की आशा में दुखी हो रहे हैं।

मैं सुखी होकर दुखी हो चुका। पर कुछ लोग अभी दुखी हैं सुखी होनेके लिये, इसी आशा में सुख के दुःख में परिणत हो जाने पर भी मुझे सुख है।

जासूसी

मेरे हाथ में एक जासूसी उपन्यास देखकर पण्डित गोवर्धन मिश्र ने कहा "यह पयोमुख विषकुम्भ क्यों ले आये हो ?"

मैंने कहा—"समालोचना के लिये इसे पढ़ना है। आप इससे नाराज क्यों हैं ?"

पण्डितजी कहने लगे—सुनो। मैं तुम्हें अपने जीवन की एक कहानी सुनाता हूँ। जिस समय मैं तुम्हारी ही उमर का था उसी समय की घटना है।

उस समय मैं जासूसी उपन्यासों का परम भक्त बना था, जब हिन्दी का भण्डार खाली हो चुका और कोनोन डायल, ब्लेक इत्यादि भी हमारे मस्तिष्क पर अंकित हो चुके तो मैंने बंगला सीखकर दामोदर बाबू, पाँचकौड़ी दे, प्रभृति की भी थाह ले डाली, और स्वयं जासूस बनना ही मेरा लक्ष्य हो गया। मैं घंटों बैठा सुनी सुनायी समस्याएँ हल करता। पर अन्त में जब रोटी समस्या सामने आयी तब भारतवासियों की बुद्धि को जिन्होंने मेरी कोई कदर नहीं की, कोई "केस" न दिया, धिक्कारता हुआ, अन्त में अपने ससुर की सिफारिश से एक आफिस में क्लर्क नियुक्त हुआ। पर जासूसी वासना न गयी। सोचा महान् व्यक्ति-का आदर पहले नहीं होता, पीछे होता है। उसे लगे रहना

चाहिये। आफिस में काम से अवकाश पाने पर एडगर वालेस की पुस्तकें पढ़ता और घर पर घंटों बैठकर कहानियाँ लिखता जिन्हें पढ़कर पाठकों की चांदीपर के बाल खड़े हो जाते, यदि कोई उसके पाठक होते तो। मेरा यह काम यदि किसी को खटकता था तो गोदावरी (मेरी धर्मपत्नी) को। पर मैं भला कब उसकी सलाह लेता।

जेठ का महीना था। आग बरसती थी। आफिस से आया तो स्थिरतापूर्वक कोनोन डायल की एक पुस्तक पढ़ने लगा। गोदावरी, अपनी एक पड़ोसिन के यहाँ गयी थी। घर सूना था। मैं पन्ने पर पन्ना उलटता जा रहा था कि अकस्मात् मेरी गोद में पुस्तक के भीतर से एक पुरजा गिर पड़ा। मैंने उठा लिया। गोदावरी के अक्षर थे—पढ़ा। "श्री चरणों में दासी का कोटिशः प्रणाम—

नाथ! जाने के दिन आपने मुझे अपने वियोग में रोने से मना कर शीघ्र आनेका प्रण किया था। आज महीनों गुजर गये, आपने दासी को याद न किया। मैं दर्शनों की भूखी हूँ। यदि प्रत्योत्तर में विलम्ब होगा तो लोक निन्दा का भय न कर भाग कर आपके पास चली आऊँगी और फिर कभी कहीं अकेला न जाने......"

और न पढ़ सका। कलेजा मुँह को आने लगा। पत्रकी

दूसरी तरफ—ललित मोहन तिवारी, ४ नम्बर मांटगुमरी रोड, झाँसी लिखा था। ओफ्, मेरे घर में यह हाल? पापिष्ठा पिशाचिनी गोदावरी की यह चाल! कहीं भूल तो नहीं हो गयी? पर भूल कैसे होगी। उसीके तो अक्षर हैं। वही लेटर पेपर, जो मैं आफिस से ले आता हूँ, छपा सिरनामा काटकर इस्तेमाल किया गया है जैसा कि मैं करता हूँ। और ओफ्, मेरी ही फाउनटेनपेन का लिखा तो है, क्या यह भी मैं न पहचानूंगा? यह तो एक गँवार भी समझेगा। इतने दिनसे जासूसी कर रहा हूँ, भला कभी धोखा, हो सकता है। मन करता है विष खालूं, पर क्यों? मरना किसके लिये? जो दूसरे पर मरती है उसके लिये? नहीं नहीं, उसे ही मार डालूँगा।

ओह, इसीलिये ललित की स्त्री से इतना मेल है। जब देखो तब बैठी उससे बातें करती है, उसे पढ़ना सिखाती है। बहनपा लगाया है जिससे उसके पति से भेंट करने का सुभीता हो। अच्छा, जल्दी में कुछ करना ठीक नहीं। मारूंगा तो अवश्य, पर अकेली गोदावरी को ही क्यों, ललित को भी। दोनों को संग ही। अभी स्थिर रहना अच्छा है। वह मेरे यहाँ से भागेगी? अच्छा भागे, उसीके साथ भागे। पर मैं दोनों को संसार से भगा दूँगा। सोचते सोचते मेरी सुध बुध जाती रही।

दिन पर दिन जा रहे थे। यह भागने का प्रयत्न क्यों

नहीं करती। ललित की स्त्री सरयू तो बराबर आती है। कई दिन मैंने सवेरे आफिस से आकर छिपकर उनकी बातें भी सुनी हैं। पर सन्देहजनक तो कोई बात नहीं देखी। ओफ, मैं कैसा मूर्ख हूँ। सन्देहजनक बात होगी भी तो क्या उसकी स्त्री के साथ? उससे तो सिर्फ ऊपर का मिलाप है। भीतर भीतर तो यह पिशाचिनी उसका ही सर्वनाश करने जा रही है।

सन्देह बढ़ता जा रहा है। प्रमाण और भी पक्का हो रहा है। देखता हूँ गोदावरी अपने पहनावे पर विशेष ध्यान देती है। मैं उसको रूखी बातें कहता हूँ, प्यार नहीं करता। कहीं इसी से तो वह ऐसा नहीं कर रही है? पर नहीं, यह कैसे हो सकता है?

९ बजे रात को गोदावरी रसोई-घर में बैठी महराजिन से न मालूम क्या बातें कर रही थी। मैं शयनागार में जाकर कुछ पढ़ रहा था। इतने में कान में भनक आयी "शायद यही तो मकान है", चुपके से खिड़की पर जाकर देखा तो एक व्यक्ति हाथ में छड़ी लिये, नीचे खड़ा, खिड़की की तरफ देख रहा है। मैं फौरन गोदावरी की साड़ी खूँटी पर से उतार, स्त्री की तरह कमर में लपेट और माथे पर ओढ़कर खिड़की की तरफ पीठ करके खड़ा हो गया। धीमे स्वर में आवाज आयी—गोदावरी। मैंने स्वर बदल कर कहा—हूँ।

वह आगे बढ़ा, और मैं साड़ी फेंक नीचे दौड़ा। गली की

तरफ की खिड़की खोल, लाठी ले चुपके-चुपके दरवाजे के निकट जाने लगा। दरवाजा खुला पाकर वह व्यक्ति धीरे-धीरे भीतर आ रहा था। पीठ मेरी ओर थी।

ओह ! यही है पापिष्ठ ! मैंने लाठी तानी और कसके एक हाथ जमा दिया। लक्ष्य तो था सिरपर। पर हाथ काँपते थे, पड़ गया कन्धे पर। आवाज हुई—एंह······आह······बापरे··· बे······टी। बस वह चुप हो गया और धड़ाम से गिर पड़ा। अच्छा ठहरूँ, देखूँ, गोदावरी की अवस्था। वह लालटेन लिये दौड़ी आ रही है। लालटेन का प्रकाश पड़ते ही गोदावरी चिल्ला उठी—"बाबूजी,बाबूजी। बैठ गयी। मेरे तो काटो तो लहू नहीं। सचमुच प्रकाश में देखा तो मेरे ससुर महाशय थे। इन्हीं की बदौलत मुझे नौकरी मिली थी। आँखें उलटी जा रही थीं, कन्धे के कपड़े लाल हो रहे थे।

तीन दिन की चिकित्सा के बाद उन्होंने आँखें खोलीं। मैं बगल में कुरसी पर बैठा था। गोदावरी सिर पर पंखा झल रही थी। ससुरजी बोले—बेटी गोदावरी। वह रो पड़ी। ससुरजी मेरी तरफ देखकर बोले—अगर मैं यह जानता कि तुम मुझपर ऐसे नाराज हो तो मैं कदापि तुम्हारे यहाँ न आता।

मेरी आँखों के सामने अन्धकार छा गया। होम्स की

जासूसी भूल गयी। मैं रोकर उनके पैरों पर गिरा। बोला पिताजी! अनजान में ऐसा हुआ, मैंने समझा कोई चोर है।

"बाबूजी, कैसे क्या हुआ?"

"बेटी, मैंने देखा तो तुम्हारा नया मकान था नहीं। मकान के सामने खड़ा होकर सोच रहा था कि यही मकान है या दूसरा। इसी समय तुम्हें मैंने खिड़की पर देखा। सन्देह मिटाने को पुकारा—गोदावरी। तुमने कहा—हूँ।"

गोदावरी आश्चर्य के साथ बोली—मैंने हूँ कहा?

मैं झट बोल उठा—अभी इन बातों को हटाइये, कमजोरी में बातें करने से फिर ज्वर आने का भय है।

तीन महीने बीत गये। ससुरजी चले गये। मैंने दृढ़ संकल्प किया कि चाहे जैसे हो अपने भूल रूपी कलंक को असली चोर पकड़ कर धोऊँगा। गोदावरी का असली हाल साबित करके ससुरजी को दिखा दूँगा और फिर संकल्पानुसार कार्य करूँगा।

अकस्मात् एक रात को जब मेरी नींद खुली तो देखा कमरे में गोदावरी नहीं है। दौड़कर नीचे गया। देखा सदर दरवाजे में ताला लगा है। सन्देह हो गया। ओफ्, मैं सोया ही रहा और चिड़िया भाग गयी। सरलाक होम्स रहते तो इस समय क्या करते, यही सोचने लगा। अनेक युक्तियाँ लड़ायीं। पर कुछ पता न चला। बिछौना उलटाया कि कुछ और प्रमाण पाऊँ तो

देखा कि मेरी कुंजी गायब है। शैतान मेरा सर्वनाश कर गयी।

पौने चार बजे थे। टाइम टेब्ल में देखा ५॥ के पहले कोई गाड़ी नहीं है।

झट स्टेशन की ओर चला। कपड़ा पहनते समय तीक्ष्ण दृष्टि से देख लिया कि उसकी साड़ी और अंगोछा अलगनी पर नहीं है।

अब इस बातमें कुछ भी सन्देह न रहा कि कुञ्जी से मेरा कुल रुपया और अपने गहने वगैरह निकालकर, मेरे अंगोछे में बाँध ऊपर से एक और साड़ी (पोटली छिपाने के लिये) ओढ़ कर भागी है। मेरा मगज तो जासूसी ने पहले ही से साफकर रखा था, सारी घटना आँखों के सामने नाचने लगी। नीचे दौड़ा, लाठी ली और स्टेशन की ओर दौड़ा।

स्टेशन कुछ ही दूर बाकी रह गया था कि देखा आगे आगे एक पुरुष और पीछे पीछे एक स्त्री बड़ी तेजीसे कदम बढ़ाये चली जा रही है। हाथमें एक छोटसा बेग था। अभी कुछ अँधेरा ही था। साफ कुछ नहीं मालूम होता था। मैं बेतहाशा दौड़ पड़ा। मेरी आहट पाकर दोनों रास्ते के दो ओर हो गये। मैं और तेजी से दौड़ा, समझा कि वे नाले में पोटली फेंकने जा रहे हैं। बस आव देखा न ताव, पीछेसे जाकर मैंने स्त्री की कमर पकड़ ली और हाँफते हुए बोला "पिशाचिनी तेरा यह बर्ताव? अब देख!"

पर यह क्या ? यह तो गोदावरी नहीं है। यह तो कोई और ही स्त्री है। वह चीख उठी। पुरुष अपने हाथ का बेग जमीन पर रखकर दौड़ा। उसने मेरा गला धर दबाया। मैं तो हाँफ रहा था ही, धम से जमीन पर गिर गया। ओह अब प्राण गया! भला जासूस भी ऐसे मरते हैं ? बच गया। उस पुरुष ने तड़ातड़ ४—६ धौल जमा दिये और लगा ससुरा, साला इत्यादि शब्दों से मेरी अभ्यर्थना करने।

एक कांस्टेबल लौट कर थाने जा रहा था। वह दौड़ा और मुझे मौतके हाथ से छुड़ा लिया।

मैं भीगी बिल्ली की तरह दुम दबा कर घर आया। देखा गोदावरी दाई को बाजार जाने कह रही है। हे भगवन्, मेरी जासूसी का यह फल !

आते ही पूछा—तू फिर चली आयी ?

गोदावरी बोली यह फिर कौन सा ढंग निकाला ? मैं गयी थी कहाँ जो चली आयी ?

मैं—अभी घंटे भर पहले कहाँ थी ?

गोदावरी—बाबूजी जब बीमार थे तो उनके लिए मन्नत मानी थी। वही आज पूरी करने गयी थी। सबेरे गोमती नहाने गयीं थी। मैं थी, सरयू, उसकी माँ, ननद और दरवान था। जगाने से तुम ऊधम मचाने लगते इसीलिये नहीं जगाया।

अब तो साड़ी, ताली, अंगोछा वगैरह के गायब होने का वास्तविक कारण मालूम हुआ। तो क्या मैं इतनी भूल करूँगा? अच्छा माना कि यह मेरी भूल थी पर वह चिट्ठी? वह तो बहुत बड़ा प्रमाण है। दौड़कर अपने कमरे से उसे ले आया और गोदावरी का हाथ पकड़ कर बोला "यह चिट्ठी मेरी किताब में कहाँ से आयी?"

गोदावरी बोली—अरे इसको डाक में छोड़ना ही भूल गयी। सरयू का पत्र है। उसने बहुत दिन हुए अपने स्वामी को लिखा था।

मैं काँपने लगा। बोला—पर लिखावट तो तुम्हारी है।

गोदावरी—तो और कौन लिखता? वह लिखना तो जानती नहीं। मुझ से लिखाया था, पर टिकट न रहने के सबब से उस दिन इसे भेज न सकी, एक किताब में रख दिया। दूसरे दिन ढूँढ़ा तो न मिली, समझा सरयू लेगई होगी। पर तुम ऐसे क्यों कर रहे हो? कपड़े पर तमाम धूल क्यों लगी है?

मैंने कान उमेठा और मन-ही-मन कहा—पत्थर पड़े इस जासूसी बुद्धिपर और इन जासूसी किताबों पर।

चोर

क्या आपने कभी चोरी की है? घबड़ाइये नहीं। मैं खुफिया विभाग का आदमी नहीं। यदि रहता भी तो आपको मालूम होना चाहिये कि चोर पकड़ना भारत की खुफिया पुलिस की शान के खिलाफ है। असल बात यह है कि मैं अपने मौसेरे भाइयों की तलाश में निकला हूँ।

चोरी वह गुप्त विद्या है जिससे आप तभीतक लाभ उठा सकते हैं जब तक उसका पता दूसरों को नहीं। संसार भर में ऐसा मनुष्य नहीं जिसने चोरी न की हो। भगवान् कृष्ण ने मक्खन की चोरी की थी। महात्मा गांधी ने नमक की चोरी की। जब महात्मा लोग ही चोरी से बाज नहीं आते तो आपको मेरा मौसेरा भाई होने से क्यों इन्कार है?

मुझे कोई चोर कहे तो मुझे उतना ही आनन्द होता है जितना साहित्यसेवी कहने पर। इससे आप यह मत समझें कि मैं साहित्यसेवियों को चोर समझता हूँ। मेरे गर्व का कारण तो यह है कि चोर का चतुर होना आवश्यक है। चोरी करने में सफल होने के लिये मनुष्य को बड़ी तपस्या करनी पड़ती है। सब से कठिन प्रश्न पहले यह उठता है कि क्या चुरावें? चोरी की सफलता चोरी होने वाली चीज पर बहुत कुछ निर्भर है। हालही में मैंने कहीं पढ़ा था कि एक चोर रेडियो (बेतार की

तारबर्की) का एक बकस लेकर भागा जा रहा था। राह में उसने धोखे से 'स्विच' दबा दिया और उस मशीन से गाने की आवाज निकल ने लगी और पुलिस वालोंने उसे पकड़ लिया।

पर चोरी के लायक चीज चुनने से ही झगड़ा समाप्त नहीं होता। सच पूछिये तो असल कठिनाइयाँ तो यहीं शुरू होती हैं। कब चुरावें, कैसे चुरावें इत्यादि प्रश्न बड़े गम्भीर हैं और इनपर शांत चित्त से विचार किये बिना कभी चोरी करने का साहस नहीं करना चाहिये।

चोरी करना पाप हो या धर्म, पर चोर को कुछ असाधारण प्रतिभा जरूर होती है। स्काउटिंग के जन्मदाता सर राबर्ट बेडन पावेल अपने श्वान-निद्रा और तेज कानके लिये संसार-प्रसिद्ध हैं। देखने सुनने की ताकत को बढ़ाना स्काउटिंग का एक आवश्यक अङ्ग है। अतः उसके जन्मदाता अपने कान की तेजी के लिये प्रसिद्ध हों यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। एक बार एक चोर ने आपके शयनागार में रातको प्रवेश किया, वह भी दीवार तोड़कर, और फिर कुछ चीजें ले नौ दो ग्यारह हुआ। दूसरे दिन सर राबर्ट ने चोर की 'स्काउटिंग शक्ति' की प्रशंसा की।

एक बार मेरे यहाँ एक नया नौकर आया। उसके आने के कुछ दिन बाद ही से जेबसे रुपया पैसा गायब होना शुरू हुआ।

मेरे मित्र श्री सन्देहप्रसाद ने कहा कि यह तुम्हारे नौकर का ही काम है। तुम बिना समझे बूझे नये नौकरों को रख लेते हो।

मैंने कहा 'हरगिज नहीं, चोर का सा चेहरा उस लड़के का नहीं।'

उन्होंने कहा 'अच्छी बात है, मैं तुम्हे चोर पकड़ा देता हूँ।'

इसके बाद उन्होंने एक रुपये में ठीक बादशाह के सिरपर एक टीका लगाकर जेब में रख दिया।

दूसरे दिन सवेरे उठकर मैंने जेब में हाथ डाला। मुझे पूरा विश्वास था कि रुपया पड़ा होगा, पर नहीं, वह गायब हो गया था। इसी समय श्री सन्देहप्रसाद का पुनरागमन हुआ। उन्होंने कहा 'उस लड़के को बुलाओ।'

वह लड़का आया। मैं उसकी तरफ आँख उठाकर देख भी नहीं सकता था। वह चाहे जैसा हो, था तो मेरा ही आश्रित। अपने ही घर में उसका अपमान होता देख मैं तो मारे शर्म के पानी पानी हो गया।

उसकी कमर से एक पैसा भी न निकला। मैं तो और भी लज्जित हुआ, साथ ही खुश भी हुआ। पर संदेहप्रसाद कब हार मानने वाले थे। कहा—चलो तुम्हारी चीजों की तलाशी लूँ।

मैं उनके साथ तो गया। सोचने लगा कि उस लड़के को मानहानिका दावा करने का अख्तियार है या नहीं।

इसी समय गर्व से फूले हुए श्री संदेहप्रसाद एक हाथ से एक रुपया और दूसरे से उस लड़के की कान थामे हुए आये।

देखा, मैं कहता रहा न! आखिर चोर पकड़ दिया। चलो बच्चू! अब जेल में जाकर चक्की पीसो—कह कर उन्होंने उस बेचारे का कान और जोरसे दबाया।

जेल! तो क्या मुझे इस लड़के को जेल भेजना पड़ेगा! मुझे एक बार कचहरी में गवाही देने की जरूरत पड़ी थी, उसी समय से मैंने कसम खा ली थी कि 'फिर कभी कचहरी का मुह न देखूँगा।" अब भी मुझे वहाँ की गन्दी हवा भूली न थी। फिर मैं वहाँ जाकर इस लड़के को जेल भिजवाऊँ? हरगिज नहीं!

"और रुपया लिया था किस लिये? नकली पिस्तौल खरीदने के लिये। बड़ा शौकीन लड़का है......"

पिस्तौल! मुझे याद आया। जब मैं छोटा था उस समय नकली पिस्तौल एक असाधारण चीज थी। पड़ोस में केवल एक ही लड़के के पास थी। उसे मैं घर से पैसे चुरा चुरा कर देता। उसके बदले कुछ घंटों तक पिस्तौल उधार मिलता। पिस्तौल का शौक लड़के में होना स्वाभाविक है।

मैंने जी जान से कोशिश कर अपने में साहस इकट्ठा किया और कहा "रुपया उस लड़के को दे दो। मैं उसे जेल नहीं भिजवाऊँगा।"

जीवनकी असाधारण घटना

मित्र मंडली में जीवन की असाधारण कठिनाइयों पर बात चीत हो रही थी। सब अपने अपने जीवन की सबसे नाजुक घटना का वर्णन कर रहे थे। जिनके जीवन में जो सबसे अधिक विचित्र और असाधारण परिस्थिति उत्पन्न हुई थी उसका वर्णन वे करते थे।

एक ने कहा मैं एक जलते मकान की छतपर था। दूसरे ने कहा मैं परीक्षा में 'चोरी' करते समय पकड़ा गया। तीसरे ने कहा मैं जिस नावपर बुढ़वामंगल देखने गया था वह उलटकर डूब गयी।

पण्डित गोवर्धन मिश्र जी चुप बैठे थे। हमलोगों ने उनसे भी कुछ कहने का अनुरोध किया। उन्होंने कहना शुरू किया—

पर तुम लोग तो केवल अपने शरीर की कठिनाइयों का ही वर्णन करते हो। मनमें कभी कभी ऐसी कठिनाई आ पड़ती है, कभी कभी मनुष्य को इस प्रकार असमंजस में पड़ जाना पड़ता है, आदमी का दिमाग ऐसा शिकस्त पड़ जाता है कि शारीरिक विपत्तियाँ उसके सामने कुछ भी नहीं।

बात उस समय की है जब मैं सिर्फ बीस वर्ष का था।

दिवाली थी। भंग कुछ गहरी छान ली थी। शामको एक मित्र के साथ घूमने निकला। एक सुन्दर साइनबोर्ड पर नजर पड़ी। "नीलाम—दौलतका खून" इत्यादि शब्द भंग की मस्ती में बड़े भले मालूम पड़े। मेरे मित्र ने कहा चलो जरा तमाशा देख आवें।

हम दूकान में जाकर तमाशा देखने लगे। पहले हमने सोचा था कि दस पांच की चीजें होंगी, पर वास्तव में नहीं बहुत दाम की—हजार हजार की चीजें—नीलाम हो रही थीं। हम तमाशा देख रहे थे पर न जाने कब और कैसे—मुझे कुछ देर बाद मालूम हुआ—मैं भी नीलाम में बोली बोलने लगा।

मेरे मित्र ने कहा "कभी फंस जाओगे बच्चू तो आफत हो जायगी। हजार हजार रुपये की बोली बोलते हो पर किसी से उधार भी मांगोगे तो पचास रुपया न देगा।"

"अरे चलो जी, कुछ वैसा अनाड़ी थोड़े ही हूँ कि फंस जाऊँ। देखो मैं किस होशियारी से बोलता हूँ, लोग भी समझें कि यह कोई नवसिखुआ नहीं।"

मेरे पास—घर पर, पाकेट में नहीं—कुल तेंतालिस रुपये कई आने थे। यदि मैं किसी महाजन से कर्ज भी लेता तो वह मुझे पांच सौसे अधिक एक छदाम भी देने का साहस न करता। पर इस समय मैं हजार डेढ़ हजार तक की बोली बोलने से भी बाज न आता था।

इसी समय कई सुन्दर चीजों के 'सेट' की बारी आयी। शहर के एक धनी सज्जन पहली ही बार एक हजार की बोली बोले। दूकान भर में सन्नाटा छा गया। दो दो हजार की चीजें नीलाम हुई थीं पर बोली उनकी भी सौ या पचास रुपये से ही शुरू हुआ करती थी।

इसी समय एक आवाज सुनाई पड़ी—

"एक हजार पचास।"

वह आवाज मेरी थी।

फिर सन्नाटा छा गया। नीलाम करनेवाले ने उस सज्जन की ओर देखा, फिर चारो ओर नजर फिरायी और अन्त में उन्हीं पर अपनी दृष्टि जमायी। पर वह सज्जन टस से मस न हुए। भाव में जरा भी परिवर्तन नहीं देख पड़ा। अब मुझे मालूम हुआ कि उन्होंने पहली ही बोली में अपनी सारी शक्ति और साहस खर्चकर डाला था। एक बार अपनी सारी शक्ति खर्चकर उन्होंने ज्वालामुखी पर्वत की तरह 'एक हजार' एक ही बार उगल दिया। फिर वे साधारण व्यक्ति हो गये। उनके पास एक ही गोली थी जिसे चलाने के बाद उन्होंने आत्मसमर्पण कर दिया।

ज्यों ज्यों रिस्टवाच टिक टिक करती, ज्यों ज्यों सेकेण्ड बीतते जाते, त्यों त्यों मेरी नाड़ी की चाल धीमी पड़ती जाती थी

और शरीर में खून का चलना बन्द सा होता जाता था।

"एक हजार पचास—एक"......मेरे हृदय की धड़कन रुकने रुकने पर हो गयी। 'एक हजार पचास—दो'......कुछ देरके लिये धड़कन रुक सी गयी। एक हजार पचास—तीन।'

मेरे घर में एक होमियो पैथिक बक्स है और एक किताब भी। घर में जरूरत पड़ने पर कभी कभी चिकित्सक का काम भी कर लेता हूँ। अतः मैं नाड़ी के सम्बन्ध में बिलकुल अनाड़ी नहीं। मैं अपनी छाती पर हाथ रखकर कह सकता हूँ कि उस समय क्षणभर के लिये मेरी छाती में भी उस दूकान की तरह सन्नाटा छा गया।

पर केवल क्षण भरके लिये ही। जिस तरह क्षण भर तक दूकान में सन्नाटा रहने के बाद खलबली सी मच गयी उसी प्रकार मेरे दिलने भी दूनी स्पीड से धड़कना शुरू किया। मानो मेरी जीवनयात्रा ने, उसके इस क्षण भर के लिये ठहर जाने से नियत समय पर समाप्त होने में देर हो जाने के भय से, अपनी चाल तेज कर ली।

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि मेरे पास कुल तेंतालीस रुपये कई आने को छोड़ और कुछ नहीं था। निकट भविष्य में किसी वृद्ध लावारिस धनी रिश्तेदार के काशीलाभ की संभावना भी न थी। कर्ज की उम्मीद—अरे हाँ, याद आया। मैंने एक

मित्र से कुछ महीने हुए पन्द्रह रुपये, तीन दिन पर वापस करने का वादा करके लिये। तबसे उनके महल्ले में जाना ही छोड़ दिया। कर्ज भी कोई देने को तैयार न होगा।

मैंने अपने साथी की तरफ निगाह फिरायी। पर उसका कहीं पता नहीं था। मुझे इस बातपर बड़ा गुस्सा आया। अपने मित्रों को विपत्ति में छोड़कर भागना महापाप है। पर पीछे मालूम हुआ कि वह कोई बुरी नियत से नहीं भागा था। सिर्फ हँसने के लिये—जी खोलकर हँसने के लिये—वह जरा अलग चला गया था।

मुझसे मेरा नाम पूछा गया। पता पूछा गया। प्रश्न किया गया कि मैं रुपयों का 'चेक' दूँगा या नकद रुपये। मैंने कहा—'चेक' दूँगा, पर नीलाम खतम होनेपर। यदि और भी कोई चीज खरीदूँ। मुझे अब भी इस बातपर आश्चर्य होता है कि इतना कहने का साहस मुझे कहाँ से हुआ।

पर अब मैं इस सोच में पड़ा कि कैसे इस फन्दे से निकलूँ। कभी इच्छा होती कि नीलाम करनेवालों को जाकर साफ साफ अपनी हालत बता दूँ। पर पैर नहीं उठते। यदि मैं पहली ही बार बोलता तो कुछ बहाना कर भी सकता था पर मैं तो बराबर हर एक चीज के लिये बोली बोल रहा था। हजार से ऊपर तो मैं कई बार बोल चुका था।

धीरे धीरे नीलाम समाप्त हुआ। लोग रुपये, चेक इत्यादि दे देकर अपनी अपनी चीज ले जाने लगे। मैं अलग खड़ा था। क्योंकि मैं सबसे आखिर में जाना चाहता था। इसी समय मेरा साथी आया। पर मेरा चेहरा देखते ही वह फिर मुँह में रूमाल ठूँसकर हँसने लगा।

इस आदमी के बाद मेरी ही बारी है। मैंने राम का नाम जपना शुरू किया। बचपन में कभी किसी कथावाचक जी से सुना था कि राम नाम जपने से संकट दूर होता है। और ऐसा हुआ भी।

एक आदमी ने कहा बाबूजी, क्या आप ही ने वह सेट १०५०) में खरीदा है? मैंने किसी तरह से सिर हिलाकर कहा हाँ।

उसने कहा, जिन्होंने पहली बोली हजार की बोली थी वे पूछते हैं कि क्या आप पचास रुपये मुनाफा लेकर वह 'सेट' उन्हें दे देंगे।

पचास रुपये। यदि पचास कोड़े खाने पर भी मैं उस 'सेट' से पीछा छुड़ा पाता तो भी कोई आपत्ति न करता। मैंने साहस करके कहा—

"पचास रुपये? सिर्फ पचास? हूँ। अच्छा उनसे जाकर कहो कि यदि वे सौ रुपये दे दें तो मैं वह सेट छोड़ सकता हूँ।

थोड़ी देर बीत जानेपर भी जब वह आदमी न लौटा तो मेरे मित्र ने मुझे फटकारना शुरू किया। इसी समय मेरे चेक लिखने की बारी आई। मेरे पैर थर्राने लगे। मैं मेज की तरफ बढ़ने की कोशिश करता तो पैर पीछे को हटते। इसी समय वह आदमी दो चेक लेकर पहुँचा। एक सौ रुपये का और दूसरा एक हजार पचास का।

× × ×

इस बार मैं जी खोलकर हँसा। पर मेरा साथी जो अब तक हँस रहा था, अब गम्भीर हो गया। उसने कहा मैं यदि तुम्हें यहाँ न लाता तो ये सौ रुपये तुम कहाँ से पाते ?

हाँ भाई ! मैं तुम्हारा एहसान कभी न भूलूँगा। पर यह तो बताओ कि मेरे बाल अब तक काले ही हैं न ?

भाँग

मैं भाँग नहीं पीता।

काशी में रहकर, हिन्दी-प्रेमी होकर भी मैं भाँग नहीं पीता। इस पर शायद आपको आश्चर्य हो। पर उससे भी अधिक आश्चर्य मुझे खुद हो रहा है। कारण, मेरे मित्रगण भंग भवानी की उपासना करते ही हैं।

आपने सुना ही होगा कि बड़े बड़े देवताओं के सहस्र नाम हुआ करते हैं। भंग भवानी के अनन्त नाम हैं। कोई उसे सीधे भांग कहते हैं, कोई भंग, कोई विजया, कोई बुद्धिवर्धिनी, कोई सिद्धि, कोई शर्बत, कोई ठंढाई, कोई तरावट। हिंदी कवियों की तरह भाँग भी अपने उपनाम से ही परिचित है। एक मित्र के साथ महीने भर से अधिक रह चुकने के बाद मुझे मालूम हुआ कि उनका 'शरबत' भी भाँग ही है।

भाँग पीने के एक हजार एक कारण उसके उपासकों से सुने हैं। ज्यादा गर्मी, ज्यादा सर्दी, ज्यादा गर्मी न सर्दी, बदली होना, पानी का न बरसना। मौसिम से लेकर पट्चक्र भेदन योगतक भाँग का महत्त्व है। अन्तिम कारण है—भाँग पीने की इच्छा। मुझे अन्तिम कारण ही अधिक सम्यक् जान पड़ता है।

भाँग का प्रभाव सब पर एक सा नहीं पड़ता। भाँग साम्य-

वादी नहीं। भाँग तो भाग्य की तरह है जो किसी पर अधिक और किसी पर कम दया करता है।

एक प्रसिद्ध उर्दू कवि की (आज मुझे बड़ा जुकाम सा है, नाम नहीं याद आता) कविता मौलवी साहब कुछ लड़कों को पढ़ा रहे थे। भाव यह था कि शायर साकी से कहता है कि शराब देते वक्त यह भी कह दिया करो कि 'शराब लीजिये'। मौलवी साहब ने बताया कि शराब के रूप, गंध और रस से आँख, नाक और जीभ तो तृप्त होती थी पर कान नहीं। इसी लिये साकी के मुँह से "शराब" लीजिये कहलाया जाता है जिसमें कान भी तृप्त हों। कहते हैं कि स्वयं कवि महोदय को अर्थ इतना सुन्दर और नवीन मालूम हुआ कि उन्होंने मौलवी साहब को गले से लगा लिया।

भला सोचिये तो कि यह क्योंकर संभव हुआ कि मौलवी साहब ने एक ऐसा सुन्दर अर्थ निकाला कि कवि जी भी दंग रह गये। आप चाहे जो कुछ समझें, पर मेरी राय में तो जहाँ कवि महोदय केवल शराब ही पीते थे वहाँ मौलवी साहब भाँग के भी आदि रहे होंगे। और वह भी विशेष प्रकार के।

कुछ भाँग पीनेवाले ऐसे होते हैं जिन्हें तब तक नशा नहीं आता जब तक उनसे यह न कह दिया जाय कि 'भाँग लीजिये'।

कुछ ऐसे लोग भी हैं, जिन्हें तब तक नशा नहीं आता

जब तक कि भांग बनाया जाना खुद देख न लें। एक ऐसे मित्र हैं जिन्हें ज्यों-ज्यों नशा चढ़ता है, त्यों त्यों जोर दे कर दुहराते जाते हैं कि बड़ी फीकी बनी। कुछ ऐसे हैं जिन्हें दूसरों का नशा देखे बिना नशा नहीं आता और हमेशा साथियों की तलाश में रहते हैं।

केवल भाँग की ओर ही नहीं, जीवन के सुखों के प्रति मनुष्य मात्र की प्रवृत्ति कुछ ऐसी ही है। कुछ लोग ऐसे हैं जो सुख में रहकर भी सुख को नहीं पहचानते—सुख पाकर भी दुखी रहते हैं। कुछ ऐसे हैं जिन्हें सुख में उतना सुख नहीं मिलता जितना सुख पाने के लिये उठाये हुए दुःख में। कुछ ऐसे हैं जिन्हें जितना ही सुख मिलता है उतना ही असंतुष्ट उतना ही दुखी होते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो दूसरों को दुखी देखे बिना सुखी होते ही नहीं।

ऐसे भी लोग हैं जिन्हें भाँग पीने से नशा नहीं होता, भाँग पीने का नशा होता है। ये रोज भाँग पीते हैं, न मिलने पर तरसते हैं पर मिलने पर कोई विशेष आनन्द नहीं पाते। ऐसे ही कुछ लोग होते हैं जो सदा सुख चाहते हैं, कभी सुख पाते नहीं। सुख नहीं मिलता तो दुखी होते हैं। पर सुख मिलने पर सुखी नहीं होते।

ऐसे लोगों को क्या कहें?

मैजीशियन

रास्ते में एक जादूगर जा रहा था। मेरी बड़ी इच्छा हुई कि उसे बुलाकर कुछ खेल देखूँ। पर शर्म मालूम हुई। अगर पास में कोई बच्चा होता तो उसी के बहाने उसे बुला लेता। देखते-देखते वह मेरी गली से सड़क पर निकल गया। न मालूम उसके थैले में कौन-कौन से रहस्यमय खेल भरे थे! नये-नये खेल देखने की उत्कट इच्छा रहते भी मैं उसे रोक न सका। मुझे अपनी लज्जा पर कुछ लज्जा आई!

मैं जादूगरों को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखता हूँ। कौन्सिलों के सदस्यों से भी ऊँचा स्थान देता हूँ। जादूगर फौरन अपने काम का फल दिखा देता है। उसके खेल देखकर मुझे आश्चर्य होता है। मैं चकित हो जाता हूँ।

वह साल के किसी भी महीने में आम का पेड़ उगा सकता है। उसमें फल लगा सकता है। जिस काम के लिये प्रकृति को इतना परिश्रम करना पड़ता वह उसे पल भर में कर दिखाता है।

बचपन से ही मुझे यह खेल सबसे अधिक प्यारा रहा। मेरे जनेऊ के अवसर पर जादू के खेल दिखलाने का भी प्रबन्ध हुआ था। मैंने साफ कह दिया कि जनेऊ की विधि कोई और पूरी करावे, मैं जादू का खेल देखूँगा।

मेरी शादी के अवसर पर भी यदि जादू का खेल होने का प्रबन्ध हो तो विधि किससे पूरी कराऊँगा इसी की चिन्ता है। कुछ अनुभवी लोगों का कहना है कि शादी में मचलना बड़ा ही आसान है। कुछ लोग मचल जाते हैं कि मुझे इतने रुपये दो तो नहीं शादी नहीं करता। पर यह अनुभवी लोगों की बात है। मेरे जैसे गैरतजुर्बेकार को ईश्वर ही बचावें।

जादूगर के खेल से भी अधिक मुझे किसी पर आश्चर्य होता है तो उन लोगों पर जिन्हें खेल देखकर आश्चर्य नहीं होता। ऐसे लोग भी बहुत हैं।

एक जादूगर ने एक मौलवी साहब की दाढ़ी से दस रुपये निकाले। खेल खतम होने के बाद जब वह जाने लगा तब अचरज जाहिर करने के बदले मौलवी साहब ने कहा—"अमा, मेरी दाढ़ी से दस रुपये लेकर कहाँ भागे जा रहे हो?"

उन्होंने शायद सोचा कि उनकी बीबी ने उनकी दाढ़ी को सुरक्षित स्थान समझ वहाँ रुपये रख दिया होगा।

एक और श्रेणी के लोग हैं जो कहते हैं कि मैजिक में सब हाथ की सफाई है। इसका मतलब मेरी समझ में ठीक-ठीक नहीं आया। जो यह बतला सकें कि अपने हाथ की सफाई से दूसरे की दाढ़ी में रुपया कैसे मिलता है वह शीघ्र मुझे सूचित करें। मेरे एक मित्र की दाढ़ी बहुत ही घनी है भी।

इसी श्रेणी के मेरे मित्र ज्ञानेन्द्रजी हैं। इन्हें मुझपर हँसी आती है। कहते हैं कि जादू वादू कुछ नहीं। यह सब तुम्हारा अन्धविश्वास है। इसी तरह वैज्ञानिक लोग कहा करते हैं कि ईश्वर कुछ नहीं, केवल लोगों का अन्धविश्वास है। पर मुझे तो विश्वास है—उसे अन्धविश्वास कहने की आवश्यकता नहीं क्योंकि अगर वह अन्धा न हो तो उसका नाम विश्वास ही नहीं—कि ईश्वर है। यही नहीं, वह जादूगर भी है—इतना बड़ा जदूगर कि सब जगह बसता हुआ भी किसी को दिखाई नहीं पड़ता। तो भी वैज्ञानिक उसे जादूगर नहीं समझते तो क्या वे मेरे विश्वास से कम अन्धे हैं।

खैर, एक दिन मेरे मित्र ज्ञानेन्द्रजी ने मुझ से आकर कहा—"यहाँ आजकल एक बड़ा नामी मैजीशियन आया है। चलो हमलोग उसका खेल देखने चलें। हम तुम्हें उसके खेलों का रहस्य समझा देंगे। फिर तुम्हें कभी इतना आश्चर्य न होगा।"

यदि मुझे इस बात की तनिक भी आशंका होती कि उनके समझाने से मेरा आश्चर्य कम हो जायगा, तो मैं कभी न जाता। क्योंकि आश्चर्य नहीं तो फिर आनन्द कहाँ। मुझे याद है कि मुझे बचपन में रेल, बिजली आदि को देखकर बड़ा आनन्द होता था। पर जब विज्ञान पढ़ना पड़ा तब से ये सब चीजें साधारण हो गईं। इन्हें देखकर अब आश्चर्य होता है। न आनन्द

बस इसीलिये वैज्ञानिकों से लड़ाई है। ये आश्चर्यजनक वस्तु बनाते हैं पर उन्हें आश्चर्यजनक रहने नहीं देते। उसकी महत्ता नष्ट कर देते। उसे ही नष्ट कर देते। विज्ञान से बनी सभ्यता भी इसी प्रकार कहीं विज्ञान से ही नष्ट न हो जाय।

पर मुझे विश्वास था कि ज्ञानेन्द्रजी मेरे विश्वास को कम न कर सकेंगे। इसलिये मैं फौरन उनका कहना मान गया।

उस दिन शाम को हमलोग मैजीशियन के खेल में गये। मैजीशियन और जादूगर में, जहाँ तक मैं समझ सका हूँ, यही फर्क है कि जादूगर खुले मैदान में और मैजीशियन घर के अन्दर खेल दिखाते हैं। फिर भी मैजीशियन अपने को जादूगर कहलाना पसन्द नहीं करते। इसलिये मैं अब मैजीशियन शब्द का ही व्यवहार करूँगा।

× × × ×

"सज्जनो !" मैजिशियन ने अपना हाथ दिखला कर कहा "मेरा हाथ बिलकुल खाली है। देखिये एक...दो...तीन...!" उसने अपने हाथ से झननन शब्द के साथ कई रुपये निकाल कर मेज पर रख दिये। लोग भौंचक से रह गये।

सहसा ज्ञानेन्द्रजी बोल उठे "रुपये कोट की आस्तीन में थे।" फिर क्या था। सब कहने लगे कि जादू बादू कुछ नहीं रुपये कोट की लम्बी आस्तीन से ही निकले।

"अच्छा देखिये इन लोहे के कड़ों को। तीनों अलग अलग हैं। तीनों में कहीं कटा हुआ नहीं है—आप जाँच कर लीजिये। अच्छा अब देखिये—एक दो...तीन।"

फिर झनझनाहट हुई और तीनों कड़े एक दूसरे में बँध गये। लोग फिर "वाह वाह" करने लगे।

ज्ञानेन्द्रजी फिर बोल उठे "उसकी आस्तीन में बँधे हुए कड़े पहले ही से थे।"

फिर क्या था। सभी लोग मानो चालाकी समझ गये। बेचारे मैजीशियन की ईज्जत धूल में मिल रही थी। उसने ज्ञानेन्द्रजी की ओर हसरत भरी निगाह से देखा। ज्ञानेन्द्रजी ने मुस्किरा दिया।

मैजीशियन ने एक दर्शक की टोपी माँग ली और उसमें से गिनकर सत्रह अण्डे निकाले। फिर लोग स्तब्ध रह गये। आस्तीन में अगर अण्डे रहते तो फूट भी जाते न ?

पर ज्ञानेन्द्रजी ने हँसकर कहा "अजी जनाब ! आस्तीन में अण्डे देनेवाली एक मुर्गी रही।"

आस्तीन में मुर्गी है यह सभी जान गये।

इसी प्रकार बेचारे के सब खेल मिट्टी में मिलते गये। कुछ लोगों ने चिल्लाना शुरू किया "पैसे वापस करो।" कुछ लोग तो मैजीशियन को गाली भी देने लगे। कारण, ज्ञानेन्द्रजी ने

सबको बतला दिया कि उस आस्तीन के अन्दर तीन खरगोश, एक मुर्गी, कई खिलौने, कड़े, रुपये आदि भरे थे।

मैजीशियन ने अन्तिम बार साहस करके कहा "सज्जनो! मैं अपना अन्तिम खेल, जो बिल्कुल नया है और जिसे आप लोगों ने कभी न देखा होगा, दिखाता हूँ। (ज्ञानेन्द्रजी से) क्यों महाशय, क्या आप कृपाकर अपनी घड़ी मुझे देंगे?... धन्यवाद! अच्छा मैं इसे इस खल में रखकर चूर चूर कर दूँ न?"

"शौक से!"

मैजीशियन ने घड़ी को खल में रखा। उसके चूर होने की आवाज लोगों ने सुनी पर ज्ञानेन्द्रजी बोले "पुराना तमाशा है। असली घड़ी उसने आस्तीन में रख ली।"

"अच्छा, महाशय! क्या मैं आपका रूमाल ले सकता हूँ? अच्छा इसे मैं कैंची से काट डालूँ?"

"हाँ हाँ!"

कच् कच् आवाज के साथ रूमाल सब के सामने काट दी गई। ज्ञानेन्द्रजी ने कहा ठहरिये। जरा मुझे समझ लेने दीजिये। इसकी चालाकी भी मैं सोच निकालता हूँ।"

"अच्छा अब आप मुझे अपनी टोपी भी काटने की इजाजत देते हैं?"

टोपी भी कट गई। ज्ञानेन्द्रजी कुछ घबराये। कहा "भई यह तो मेरी समझ में नहीं आती।"

जनता में निस्तब्धता छा गई थी।

मैजीशियन ने कहा "सज्जनो! बाबू साहब की आज्ञा से मैंने उनकी घड़ी तोड़ डाली और रूमाल और टोपी कतर डाली। अब यदि कहें तो मैं उनका कोट भी उतरवा लूँ। नहीं तो आज का तमाशा खत्म किया जाता है।"

आश्चर्य! घोर आश्चर्य!! ज्ञानेन्द्रजी की अनुमति से उनके सामने तथा इतने लोगों के सामने उनकी इतनी दुर्दशा उसने की।

यह जादू नहीं तो क्या है?

उड़ता अखबार

मैं अपने एक मित्र के साथ पार्क में टहल रहा था। मेरे मित्र कुछ ज्यादा मोटे थे—अधिक चलना उन्हें अखरता था। हवा भी बड़ी तेज चल रही थी। रह रहकर वे इधर उधर पड़ी बेञ्चों की ओर देखा करते। मैं यथासम्भव उन्हें अधिक टहलाने का प्रयत्न कर रहा था। पर अन्त में बेचारे थककर एक बेञ्च पर बैठ ही गये।

उनके हाथ में एक अखबार था। उन्होंने उसे खोला।

मैंने कहा—भाई! अखबार मत पढ़िये।

उन्होंने आश्चर्य से पूछा—क्यों?

"मैं अखबार पढ़ने का घोर विरोधी हूँ। अखबार पढ़ने से आपकी अक्ल मारी जाती है। इससे तरह तरह के दोष उत्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ......"

"पर......"

"उदाहरणार्थ, आप एक बात सोचिये। पहले जब आप अखबार न पढ़ते थे तब अगर आप से कोई कहता था कि दस आदमी एक दंगे में मर गये तो आपका कलेजा दहल उठता था। अब आपको अगर कोई कहता है कि पचास आदमी मारे गये, तो आप पूछते हैं—सिर्फ पचास, वहाँ जो दंगा हुआ था उसमें तो तीन सौ मरे थे?"

"पर भई! समाचार पढ़ने से लाभ भी तो बहुत बड़ा होता है?"

"मेरी राय में तो ये समाचारपत्र हमें समाचार का महत्त्व ही नहीं समझने देते। मैं आप से एक प्रश्न पूछता हूँ। बताइये तो ईसा मसीह से पचपन वर्ष पहले क्या हुआ था? क्यों, याद आ गया न? जुलियस सीजर इंग्लैंड पहुँचे थे। बस उस साल में एक ही घटना हुई जो आज दो हजार वर्ष बाद भी छोटे-छोटे बच्चोंकी खोपड़ी में छड़ी की जोर से घुसेड़ी जा रही है। फतहपुर सिकरी, हल्दीघाटी, १८५७ पलासी आदि की चर्चा करने से फौरन आपको एक एक घटना—केवल एक एक घटना स्मरण हो आती है। क्योंकि उस जमाने में ये समाचारपत्र थे ही नहीं। अब आप बतलाइये कि आज से पचपन वर्ष पहले क्या हुआ था? ईसा से पचपन वर्ष पहले की बात तो आपको याद है, अब आज से पचपन वर्ष पहले की बात बतलाइये।"

"नहीं मालूम"

"आजकल रोज सैकड़ों घटनाएँ होती हैं। तरह तरह के समाचार रोज आते हैं। इसलिये हम उन घटनाओं को फौरन भूल भी जाते हैं। आज कोई सबसे बड़े वायुयान पर महासागर के इस पार से उस पार गया। कल कोई सबसे छोटे पर। और

परसों एक स्त्री ने वही काम कर दिखाया। अब बतलाइये हम इनमें किनकी तारीफ करें।

"समाचारपत्रों में समाचारों की भरमार होने से हम एक भी समाचार अच्छी तरह नहीं समझने पाते। हर घड़ी, हर मिनट समाचार आते हैं। हम सुनते सुनते बहरे, देखते देखते अन्धे, और सोचते सोचते बोदे हो जाते हैं। यदि आप समाचार जानना चाहते हैं तो कभी समाचारपत्र न पढ़ें। तभी आप समाचारों का महत्त्व समझ सकेंगे।

"अब एक दूसरी बातपर विचार......"

"चुप रहो, मैं अभी कोई समाचार नहीं पढूँगा। एक बढ़िया लेख है—वही पढ़ता हूँ। शीर्षक है—क्या राजनीति पर धर्म का प्रभाव पड़ना चाहिये ? सुनो।"

"ठहरिये! मैं ऐसी ऊटपटांग बातें नहीं सुन सकता। आज कल के सम्पादक इतना अधिक शीर्षासन करते हैं कि उन्हें सब चीजें उलटी ही दिखाई पड़ती हैं। यह प्रश्न भी उलटा ही है। ये पूछते हैं कि सनातन और स्थायी धर्म क्षणभंगुर राजनीतिक प्रश्नों के लिये लाभदायक है या नहीं। ये यह नहीं पूछते कि राजनीतिक झगड़ों के कारण मनुष्य के धार्मिक और आध्यात्मिक जीवन में बाधा पहुँचती है या नहीं। एक विलायती अखबार में मैंने पढ़ा था कि जो औरतें नौकरी करती हैं उन्हें शादी न

करनी चाहिये। इसमें भी वही विपरीत बुद्धि है। ऐसी सलाह देनेवाले कोई वैज्ञानिक नहीं थे जिनके मतानुसार नौकरानियों के बच्चों में कोई मानसिक दोष पाया जाता हो जो देश के लिये अहितकर होता हो। इस लेखका मतलब यह था कि विवाह नौकरी में बाधक है इसलिये विवाह न करो। अब कुछ दिनों में इस तरह के प्रश्न पूछे जायँगे—क्या पहनने से जूता अच्छा रहता है ?, क्या मनुष्य के रहने से शहर की खूबसूरती मारी जाती है ? क्या विद्या क्रिकेट खेलने में बाधक है ? क्या साहित्य की उन्नति से लेखकों की आर्थिक दशा बिगड़ती नहीं ? बस इसी प्रकार के प्रश्न होते हैं इन अखबारवालों के। ये यह नहीं पूछते कि कुत्ते के दुम जँचती है या नहीं। ये पूछते हैं कि दुम जैसी सुन्दर वस्तु के लिये कुत्ता उपयुक्त पशु है या मनुष्य ? इसी प्रकार यह पूछनेके बदले कि ये पूँजीवाद, साम्यवाद, वर्ग-वाद, प्रजातंत्र, राजतंत्र, लोकतंत्र, वोट, चुनाव और पार्लमेण्ट का झगड़ा मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति में बाधक हैं या नहीं, ये पूछते हैं कि मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति की इच्छा राज-नीतिक प्रश्नों में बाधक है या नहीं। अखबारवाले यह नहीं पूछते कि जंजीर गुलाम के योग्य है या नहीं, पूछते हैं कि गुलाम जंजीर के योग्य हैं या नहीं।......"

इसी समय मेरे मित्र के हाथ से अखबार हवा के झोंके से

उड़ गया। वे उसके पीछे कई कदम बढ़े भी, पर वह उड़ता ही गया। उन्होंने उसे छोड़कर कहा "चलो घर चलें! झगड़ा खतम हुआ। आज बड़ी सुस्ती मालूम पड़ती है।"

"चलिये, मुझे कोई आपत्ति नहीं। पर अभी आपने एक बड़ी भारी गलती की। आपने उस अखबार को उड़ क्यों जाने दिया? आपकी बुद्धि समाचारपत्र पढ़ने से—क्षमा कीजिये—अगर दूषित न हो गई होती तो आप उस समाचारपत्र को कभी उड़ जाने न देते। आप उसके पीछे दौड़ते, जीजान से। लोग भद्दे चमड़े के गेंद के पीछे दौड़ते हैं और आप अखबार के पीछे नहीं दौड़ते। गेंद खेलते समय तो आपके विपक्षी साधारण मनुष्य ही रहते हैं। पर इस समय तो आपको मुक्त स्वच्छन्द वायु से खेलने का मौका मिलता। कुछ लोग समझते हैं कि हवा में उड़ती चीज के पीछे दौड़ना हास्यास्पद है। नौकरी के पीछे दौड़ना क्या कम हास्यास्पद है? संसार को हास्यास्पद न समझने से बढ़कर हास्यास्पद और क्या हो सकता है?

"यदि मनुष्य की बुद्धि दूषित न हुई हो तो वह उड़ते अखबार के पीछे बड़े शौक और आनन्द से दौड़ेगा। उसे इसमें शिकारी की तरह आनन्द होगा। पहले लोग शेर का शिकार करते रहे, अब चिड़ियों का शिकार करते हैं, आश्चर्य नहीं भविष्य में हवा के झोंके से उड़ते हुए अखबार का शिकार

किया जाय। इसमें हिंसा भी नहीं होगी। इसमें दर्शकों को भी आनन्द आयगा। आजकल बहुतेरे ऐसे लोग हैं जिनके विचार अग्रसर होते हैं, और कहा जाता है कि एक शताब्दी बाद लोगों के जो विचार होंगे वे उनके अभी हैं। अगर तुम अखबार के पीछे दौड़ते तो तुम्हारे विचार भी अग्रसर होते।

"मानसिक दृष्टिकोण पर ही तो किसी बात से सुखी या दुखी होना निर्भर है। उदाहरणार्थ......"

इतने में मेरे मित्र का मकान आ गया। हम लोगों ने अन्दर प्रवेश किया।

एक नौकर ने आकर कहा "सरकार आज एक बड़ी गलती हो गयी। मैंने आज भैयाजी को (मुझे) भांग दे दी और आपको शर्बत। धोखा हो गया।"

"इसी लिये आज मैं इतना सुस्त था, और तुम.........?" कहकर मेरे मित्र ने हँस दिया।

"तुम समझते हो कि मैं भंग के नशे में बक रहा था। सुनो, मैं तुम्हें सब बातें शब्दशः दुहरा कर सुनता हूँ। अरे भागते कहाँ हो? कोठरी का दरवाजा बन्द कर लिया? बड़े वीर हो। अच्छा ठहरो। कागज कलम रखा है। मैं सब बातें लिख डालता हूँ। छपवा दूँगा। तब तो तुम्हें पढ़ना ही पड़ेगा। क्यों?"

मिल के पुर्जे

मिल के कुछ दूर आगे से ही मुझे धक्-धक् शब्द सुनाई पड़ने लगा। अहाते के अन्दर जाने के बाद तो ऐसा मालूम होता था मानो पृथ्वी का हृदय धड़क रहा हो और उसी धड़कन का यह शब्द हो। सचमुच यह धड़कन पृथ्वी के अन्दर से ही आती है, पैरों के नीचे प्रत्येक धड़कन के साथ एक धक्कासा पहुँचता है। और बाहर ? बाहर तो बस निस्तब्धता है।

सब काम हो रहा है। मशीनें चल रही हैं। न जाने कितने आदमी भी मशीनों को मशीन की तरह चला रहे हैं। पर यह आवाज इनकी नहीं हो सकती। अरे नहीं। यह तो धड़कन है—पृथ्वी की धड़कन।

धीरे-धीरे यह शब्द पृथ्वी के हृदय से निकल कर मेरे हृदय में पहुँच गया। कब ? कैसे ? नहीं मालूम। पर अब बाहर चारो ओर निस्तब्ध गति से सब काम होने लगा। केवल धक्-धक् करता था मेरा हृदय।

पहले उस धक् धक् शब्द के कारण मैं कुछ सुन नहीं पाता था। चारो ओर केवल वही धक्-धक्। पर अब—कुछ परिवर्तन न होने पर भी—बाहर मुझे निस्तब्धता मालूम पड़ने लगी।

अब मैं इस धक्-धक् को छोड़ प्रत्येक शब्द को सुनने लगा।

मैं चुपचाप इस नीरव शब्द-सागर में उतरा रहा था।

इसी समय तीन सज्जनों ने प्रवेश किया। दो परदेसी मालूम होते थे। एक बम्बई का ही रहनेवाला जान पड़ता था। वही उन लोगों को सब कुछ दिखा रहा था। शायद मशीन के शब्द के कारण ही उन्हें जोर-जोर से बातें करनी पड़ती थीं। पर मैं तो वह शब्द सुनता ही न था इसलिये उनकी बातें साफ साफ सुन सकता था।

बम्बईवाले सज्जन कहने लगे "बिहार झील का, और जुहू का सुन्दर प्राकृतिक दृश्य आप देख चुके हैं। आपको मैं एलिफेन्टा की गुफाएँ भी दिखा चुका हूँ। वहाँ आपने हाथों से खुदे हुए पत्थर के हजारों मन्दिरों को—प्राचीन मन्दिरों को—देखा है। वहाँ की सुन्दर त्रिमूर्त्ति भी देखी है। अब देखिये इस नये लोहे के मन्दिर को—प्रकृति पर विजय प्राप्त करने पर मनुष्य का बनाया यह दुर्ग।"

परदेसियों में से एक ने कहा—"पर वह सौन्दर्य इसमें कहाँ ? जुहू में प्रकृति का सौन्दर्य अथवा उन मन्दिरों का सौन्दर्य, जो मनुष्य और प्रकृति के युद्ध के नहीं सन्धि के फल हैं, सचमुच सौन्दर्य है। पर इस लोहे के दैत्य में...।"

"भाई साहब ! आप भूलते हैं" दूसरे परदेसी ने कहा

"आपको नहीं मालूम कि जिस मन्दिर को आप सुन्दर कह रहे हैं उसके निर्माण में कितने गुलामों की जान गयी है, कितने जीव बलिदान हुए हैं। पर मशीन से बने हुए इस मशीन को देखिये। मनुष्य भी यहाँ मशीन के पुर्जे की तरह बिना किसी परिश्रम के—बिना किसी खतरे के काम कर रहे हैं।"

बम्बईवाला कुछ मुस्कुराया। पर उसकी इच्छा सम्भवतः इस बहस को समाप्त करने की थी। उसने "उधर देखो" कहकर एक ओर संकेत किया।

लोहे का एक विशाल बाहु एक भारी पहिये को घुमा रहा था। उसी पहिये से बँधे हुए न जाने कितने और छोटे बड़े पहिये नृत्य कर रहे थे। पास के मजदूर ठीक मशीन की तरह काम कर उस नृत्य में साथ दे रहे थे। मशीन के पुर्जों की तरह सबका काम बँधा हुआ था। कोई मशीन के एक 'धक्-धक्' पर, कोई दो 'धक्-धक्' पर, मानो उस विशाल बाहु के इशारे पर अपना बँधा हुआ काम कर रहा था। एक मनुष्य के शरीर में तो मानो बिजली जैसी स्फूर्ति थी। उसके दोनों हाथों में—विशाल घड़ी के काँटों की तरह—दो चमकते हुए डंडे थे। घड़ी के अंक जैसे ही पीतल के अनेक खूँटे बने थे। रह-रह कर—कभी इधर से कभी उधर से—आग की चिनगारी जैसे बिजली के स्फुलिंग निकलते थे। फौरन वह आदमी दोनों डंडों

को—घड़ी की सुई की तरह—घुमाकर इस दाँत से उस दाँत पर ले जाता। बराबर उसको इसी प्रकार दोनों डंडे घुमाने पड़ते थे।

दूसरे परदेसी ने यह दृश्य देख मुस्कुरा कर कहा—"हाँ उधर देखो।" मानो वह दृश्य उसके पक्ष में प्रमाण उपस्थित कर रहा था।

पहला दंग रह गया। इस बलवान दैत्य के मुँह पर ही उसकी निंदा करने का साहस उसे न हुआ। हार मानकर उसने कहा—

"हाँ! सचमुच ये आदमी नहीं मशीन के पुर्जे हैं। देखो न किस प्रकार कितनी सावधानी और सतर्कता से कितने अविचल भाव से काम कर रहे हैं। उफ! कैसा सिलसिला बँधा है। इस कोलाहल और अनवरत गति में भी कितनी स्थिरता, कितनी शृंखला और कितनी शान्ति है।"

वे दोनों देखते-देखते आगे बढ़ गये पर मैं वहीं दृश्य देखता रह गया। सचमुच वह गति स्थिर थी।

सहसा वह स्थिर गति अस्थिर हो उठी। जहाँ छोटी चिन-गारी निकल रही थी, वहाँ एक ज्वाला सी क्षण भर के लिये धधक उठी। उस निस्तब्ध कोलाहल के बीच एक चीख सुनाई पड़ी—किसी मनुष्य की—नहीं-नहीं एक पुर्जे की चीख।

मशीन रुकी। आवाज बन्द हो गयी। पर मुझे ऐसा मालूम पड़ा कि अबतक आवाज थी ही नहीं—अब शुरू हुई। उस क्षण भर की निस्तब्धता को मैं सुन सकता था।

जहाँ उस मनुष्य की लाश गिरी थी उसके चारो ओर छोटी भीड़-सी इकट्ठी हो गयी थी। इसी समय किसी कर्मचारी ने भीड़ को हटाते हुए प्रवेश किया। उसने उस लाश की छाती पर हाथ रखकर देखा। नाक के सामने हाथ ले गया। पर पुर्जा बेकार हो चुका था। उसने कुछ कहकर एक आदमी की ओर इशारा किया। उस लाश को छोड़कर सब अपने-अपने काम पर पहुँच गये। जिसकी ओर इशारा किया गया था उसने उसकी जगह ले ली। चार आदमी, जिनको देखने से मालूम होता था कि इनका रोज यही काम है, आये और अन्यमनस्क भाव से उस लाश को स्ट्रेचर पर लादकर ले चले।

उनमें से एक ने कहा "शम्भू भाई के मरने के बाद इतनी भारी लाश आज ही मिली है।"

दूसरे ने कहा "बोलो मत, नहीं तो दम नहीं रहेगा।"

मजदूर अपना काम पुर्जे की तरह कर रहे थे। किसी ने इस ओर आँख उठाकर देखा भी नहीं, जैसे श्मशान के निकट रहनेवाला "रामनाम सत्य है" सुनकर नहीं चौंकता। हाँ, उनका चेहरा कुछ उदास अवश्य मालूम होता था, पर वह

उदासी पशुओं की तरह मानो बिना किसी कारण के ज्ञान के ही थी।

× × × ×

कुछ देर बाद तीनों लौटे।

पहले परदेसी ने कहा "सचमुच ये मशीन के पुर्जे हैं।" दूसरे ने विजय-उल्लास से भरी हुई आवाज में कहा "अब मानते हो न?"

इसी समय मिल का भोंपा बज उठा। मैंने घड़ी देखी। ओफ! इतनी देर हो गयी!

मैं जल्दी से चल पड़ा।

बुरी चीज

सबसे बुरा विषय क्या है जिसके न होने से संसार में सुख की मात्रा खूब बढ़ जाती ?

प्रश्न गम्भीर है—काशीवालों की भाषा में गहरा है। कुछ काशीवाले ही गहरी छानकर—सो भी पण्डित गोवर्धन मिश्रजी के यहाँ—इस प्रश्नपर विचार कर रहे थे।

एक विवाहित सज्जन ने (उन्होंने अपना नाम प्रकाशित न करने के लिए मुझसे अनुरोध किया है) कहा "विवाह !" पर इस पर एक अविवाहित सज्जन ने आपत्ति की। एक दूसरे विवाहित सज्जन ने (जिनकी स्त्री उस दिन उस समय पंडितजी की स्त्री से मिलने आई थी) दृढ़ता पूर्वक कहा कि विवाह ही सुख का मूल है।

इतना तीव्र मतभेद होने के कारण विवाह छोड़ किसी दूसरे विषय की खोज शुरू हुई। सेठ लल्लूमल ने कहा "इनकमटैक्स।" पर हमारी मण्डली में और कोई सज्जन ऐसे न थे जो इनकम टैक्स देते हों। अतः यह प्रस्ताव अनुमोदन के अभाव में यों ही गिर गया।

मास्टर साहब ने पण्डितजी को देखकर कहा "आप जो रिजोल्यूशन करेंगे वही तरक्की पावेगा !"

"तरक्की पावेगा क्या अभिप्राय ?"

मास्टर साहब ने मेरी ओर देखकर पूछा "क्यों भई, 'पास' होना की हिन्दी तरक्की पाना ही है न ?"

"अच्छा ! अब मैंने आपका अभिप्राय समझा" कहकर पण्डितजी मुस्कुराये। फिर गम्भीर होकर कहने लगे "आपलोगों ने केवल स्थूल विषयों पर विचार किया है। पर मेरी तुच्छ सम्मति में संसार में निकृष्ट कोई पदार्थ नहीं, वह कोई गुण है—या यों कहिये कि कोई अवगुण है।"

मास्टर साहब (यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि आप अंग्रेजी के शिक्षक हैं) सिर खुजलाने लगे।

पण्डितजी फिर कहने लगे "मैं देखता हूँ कि मेरा अभिप्राय आप न समझ सके। मैं आपको सरल शब्दों में समझाता हूँ। विवाह से हमारे मित्र बाबू.........इसलिये नाराज हैं कि उनकी स्त्री रोज कुछ न कुछ उधार लिया करती है। पर हमारे अविवाहित मित्र इसलिये उसके बिना दुखी हैं कि उन्हें अपनी रसोई अपने ही हाथों बनानी पड़ती है, इससे रोज दफ्तर जाने में देर होती है, और रोज उन्हें एक्का किराया करना पड़ता है। अतः ये सोचते हैं कि विवाह करने से एक्के के पैसे की बचत होगी। फिर आप विवाह में कुछ धन पाने की भी आशा रखते हैं। इसी प्रकार सेठ जी आपका विरोध करते हैं क्योंकि इससे उनकी आय घट जाती है।

"मुझे बड़ा दुःख है कि मेरे साथ इतने दिनों तक भाँग छानने पर भी अब तक आप लोग इस रुपये पैसे की माया से छुटकारा नहीं पा सके। दुनिया में सबसे बुरा विषय यही पैसा बचाने की इच्छा है—कृपणता है—कंजूसी है। यह अगर आप लोगों में न होती तो न आप विवाह को बुरा कहते, न अविवाहित रहने को, न इन्कमटैक्स को। अतः आप लोगों ने जिन विषयों का नाम लिया उनका मूल यही एक अवगुण है। जिस प्रकार माया से एक ही आत्मा अनेक रूप में दिखाई पड़ती है उसी प्रकार यह अवगुण भी स्त्री के रूप में या स्त्री के अभाव के रूप में या इनकमटैक्स के रूप में आपलोगों को सताता है। यही कंजूसी सारी दुनिया को दुखी बनाती है। इसी कंजूसी के कारण कभी कभी महासमर भी हो जाता है। एक कंजूस की कंजूसी के कारण ही मेरे एक साले की नौकरी भी गई! मैं आज उसी का वृत्तान्त आप लोगों को सुनाता हूँ।

"पहले यह बताना आवश्यक है कि मेरा साला बड़ा ही परिश्रमी और अध्यवसायी है। आई० ए० पास करके ही वह सन्तुष्ट न हुआ। लगातार छः वर्षों तक दिन रात पढ़कर उसने बी० ए० भी पास किया। और इसके बाद नौकरी की खोज शुरू की। आप लोग तो जानते ही हैं कि आजकल बी० ए० वालों की कोई क़द्र नहीं। पर मुझे विश्वास था कि जिसने

इतना परिश्रम किया कि बी० ए० में ही 'सिक्स्थ ईयर' की योग्यता प्राप्त कर ली उसे नौकरी पाने में कठिनाई न होगी। यह मेरा भ्रम था। कई वर्ष तक बेचारे को कोई नौकरी न मिली। अन्त में मुझे उसके लिये चेष्टा करनी पड़ी। सौभाग्य-वश एक स्टेशन मास्टर हमारे दफ्तर के साहब के साले हैं। मैंने साहब से कहकर अपने साले को रेलवे में भर्ती करा दिया।

"वहाँ भी उसने वैसा ही परिश्रम किया। जितना काम उसका साथी क्लार्क एक घंटे में करता था उतना ही बड़े यत्न से वह दो घंटे में करता था। पर न मालूम क्यों बड़े बाबू उससे नाराज और दूसरे से खुश रहते थे।

"उसने मुझसे सलाह पूछी। आप तो—हें हें—जानते ही हैं कि मैं इन सब बातों में सलाह देने की थोड़ी बहुत योग्यता रखता हूँ। मैंने उससे कहा कि नया साल शुरू होने के दिन एक बढ़िया दामी 'फाउन्टेन पेन' अपना नाम लिखकर बड़े बाबू की मेज पर रख आना।

"बेचारे ने उस दिन तेरह रुपये को एक फाउन्टेन पेन खरीदी। जब वह रखने गया तो देखा कि वहाँ एक सोने की घड़ी रखी हुई है। उसके नीचे एक कागज पर लिखा था उसके प्रतिद्वन्द्वी एक दूसरे क्लार्क का नाम!

"इस बेचारे ने इस समय असीम प्रतिभा का परिचय दिया।

धीरे से इसने उस कागज पर 'फाउन्टेन पेन' रख दी। और उसकी घड़ी उठाकर अपने नाम वाले कागज पर रख दी।

दूसरे ही दिन बड़े बाबू ने उसे डिसमिस कर दिया।"

"यह कैसे, क्या इसका पता उन्हें लग गया?" मैंने पूछा।

"दुर्भाग्यवश—नहीं।"

"तब?"

"वह घड़ी न सोने की थी न किसी काम की ही थी। पीछे मालूम हुआ कि उस क्लार्क ने सफेद बाल काला करने की दवा २) में तीन दर्जन मँगाने के कारण ही घड़ी इनाम पायी थी। बड़े बाबू ने पहले तो बड़े शौक से घड़ी लगाई। पर उसी दिन शाम को घड़ी बंद हो गयी और वह उसे घड़ी बनानेवाले के पास ले गये। उसने कहा कि घड़ी दो कौड़ी की भी नहीं है।

"दूसरे दिन मेरे साले की ही दी हुई फाउन्टेन पेन से उसको डिसमिस करने का आर्डर दिया गया। और उस क्लार्क की कंजूसी के कारण मेरे साले की ४५) महीने की नौकरी गयी। इसीलिए मैं कहता हूँ कि रुपये से तुच्छ कुछ नहीं है और संसार में कंजूसी ही सबसे निकृष्ट विषय है।"

—

मेरा अभिन्न मित्र

मेरा एक अभिन्न मित्र बड़ा ही चतुर है। वह मेरे मनके विचारों को ताड़ जाता है। वह मेरे मनसे बात उतनी ही आसानी से निकालता है जितनी आसानी से ग्वाले दूध से मलाई निकालते हैं। यही नहीं, मेरे विचारों को वह स्वयं जानकर ही संतुष्ट नहीं होता वरंच उन्हें सबके सामने रख देता है। तारीफ़ तो यह है कि मेरे संबंध में वह इतनी बातें कहता है, फिर भी वह अपने अस्तित्व का पता दूसरों को नहीं लगने देता। अन्धेरी रात में जिस प्रकार बिजली चमककर क्षण भरके लिये लोगों को सब कुछ दिखाकर फिर उसी अंधेरे में गायब हो जाती है उसी प्रकार यह मित्र भी लोगोंको मेरे मनकी बात बता गायब हो जाता है।

आज मैं आपको उसके सम्बन्ध में अपने मन में उठते विचार सुनाऊँगा। सुनिये। उसका रंग है पीला, उसका मस्तिष्क है काले रंग के तरल पदार्थ से भरा हुआ, उसकी जीभ है धातु की बनी हुई और बीचमें फटी हुई। क्यों, वह है न बिचित्र मित्र ? उसका नाम भी सुन लीजिये। नाम उसका है—लेखनी।

कुछ लोग लेखनी के प्रति अन्यमनस्क से रहते हैं। जो लेखनी सामने आ जाय उसी से वे अपना काम चला लेते हैं।

ठीक इसी प्रकार कुछ लोग अपने मित्रों के सम्बन्ध में भी नदी-नाव-संयोग की नीति का अनुसरण करते हैं। पर लेखक को अपनी लेखनी के चुनाव में उतना ही सतर्क और सावधान रहना चाहिये जितना साधारण लोगोंको मित्र—मित्रों नहीं—के चुनाव में। पर जिस प्रकार कुछ जीव ऐसे हैं—वे बहुधा जंगलों में रहा करते हैं—जिन्हें मित्रकी आवश्यकता ही नहीं होती अथवा जैसे कुछ लोगों को संसार भर से—वास्तव में किसी से भी नहीं—मित्रता रहती है उसी तरह कुछ ऐसे लोग भी हैं जिन्हें कभी लेखनी की आवश्यकता ही नहीं होती, अथवा जो लेखनी सामने आवे उसीसे जिनका काम चल जाता है। इसमें प्रथम श्रेणी के मनुष्य यदि निरक्षर न हों तो ऐसे होते हैं जिन्हें टाइप-राइटर, टाइपिस्ट, सेक्रटरी इत्यादि नामधारी वस्तुओं से ही काम चलाने के लिये धन होता है और जिन्होंने लिखने का वास्तविक आनन्द का कभी अनुभव नहीं किया। दूसरी श्रेणी के वे होते हैं जिनका पेशा जैंटलमैनी मात्र है, जिन्हें लिखने की आवश्यकता नहीं के बराबर होती है और जब जरूरत होती है तब कहीं न कहीं से कोई कलम मिल ही जाती है। पर हमारा उनसे अभिप्राय नहीं। हमारा अभिप्राय उन लोगों से है जिनकी लेखनी कृत्रिम जीभ का और कागज कृत्रिम मस्तिष्क का काम देता है।

ऐसे लोगों के लिये लेखनी शरीर का एक अंग हो जाती है। जिस प्रकार यदि—ईश्वर न करे—आपकी नाक कट जाए और रबर की नाक बनवाना पड़े तो आपको किसी चीज के सूँघने की शक्ति नहीं रह जायगी उसी प्रकार ऐसे लोगों का अपनी लेखनी छोड़ दूसरी लेखनी हाथ में लेने से लिखना असम्भवसा हो जायगा।

मैं अपनी लेखनी को केवल छूकर पहचान सकता हूँ। यदि ठीक उसी तरह की दूसरी लेखनी भी दे दें तो मैं कह दूँगा कि यह लेखनी मेरी नहीं है। जिस प्रकार आप बहुत दिनों तक अपने जूते पहनने के बाद यदि दूसरे के जूते में पैर रखें तो आपके पैर झट आपको कह देंगे कि यह मेरा घर नहीं है उसी प्रकार दूसरी लेखनी छूनेपर मेरे हाथ कह देते हैं। पर अपनी लेखनी को हाथ में लेते ही मैं निश्चिन्त हो जाता हूँ। लिखने के लिए मुझे कुछ सोचना नहीं पड़ता। मानो उस लेखनी में मेरे विचार पहले ही से भरे हुए हों।

जिस प्रकार अपने घरसे हजारों मील चलेजाने पर मनुष्य अपने प्रान्तकी भाषा सुनकर अथवा अपने देश की बनी हुई कोई चीज को देखकर, अपने देश में ही होनेवाले फलको देख कर हजारों मीलों की दूरी को क्षणभर में तय कर अपने मनकी आखों से अपने घरको देखता है और ऐसा अनुभव करता है

कि मैं अपने घरमें ही हूँ, उसी प्रकार परदेस में परदेसियों के बीच अपनी कलम हाथ में लेते ही मुझे मालूम होता है कि मैं अब भी अपने बन्धु बान्धवों के बीच में ही हूँ।

एक बार मेरी कलम खो गयी। मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा मानो मेरा दाहिना हाथ खो गया। लिखने की बड़ी आवश्यकता थी पर दूसरी कलम से लिखा नहीं जाता था। इसके पहले मुझे अपनी लेखनी की करामात मालूम नहीं थी। उसे साधारण चीजों की तरह जहाँ तहाँ फेंक दिया करता था। एक बार रूठकर उसने मुझे बता दिया कि मेरे बिना तुम लूले हो जाओगे। तब से मैं उसे बड़े यत्नसे रखता हूँ और वह भी मेरे साथ बड़े प्रेम से बर्ताव करती है। मैं उसे दूसरों के हाथ में कभी जाने देना नहीं चाहता। पर एक बार ऐसी शिकस्त में पड़ा कि कलम देनी ही पड़ी। पर उसने अकड़ना शुरू किया। दूसरे के इशारे पर वह चलती ही न थी। अन्तमें जिन्होंने कलम ली थी उन्होंने निराश होकर उसे वापस कर दिया और कहा "भई! तुम्ही रखो इस कलम को।" मैं मन ही मन हंसा।

क्या आपकी लेखनी आप से ऐसा बर्ताव करती है? यदि नहीं तो आप जान रखिये कि आप उसका अच्छी तरह आदर नहीं करते। यदि आप चाहें तो वह निर्जीव वस्तु आपका अभिन्न मित्र बन जाय।

टेलीफोन पर कवि कालिदास

पण्डित गोबर्धन मिश्र ने पान थूककर मेरी ओर देखते हुए पूछा—क्या तुम्हें भूत प्रेत में विश्वास है ?

जी, मुझे विश्वास तो उतना नहीं है—पर डर जरूर लगता है।

चारो ओर मित्र मण्डली पर नजर दौड़ाकर उन्होंने कहा—मित्रो, आप जानते ही हैं कि हमारे मित्र का सम्बन्ध कुछ अखबारवालों से रहा है। उसी संगति के कारण इनका यह स्वभाव सा हो गया है कि किसी प्रश्न का उत्तर यह स्पष्ट नहीं देते। उत्तर का मतलब हाँ और नहीं दोनों हो सकता है।

उन्होंने और कहा—पर इस समय जो मैंने यह प्रश्न किया उसका कारण यह है कि मुझे हाल में ही इस विषय का एक नया अनुभव हुआ है। परसों शाम को हम महाकवि कालिदास की आत्मा से बातें करेंगे। उस समय, मैं आशा करता हूँ कि आप लोग अवश्य पधारेंगे क्योंकि आप लोगों के लिये भाँग बूटी का विशेष प्रबन्ध रहेगा, तथा (मेरी ओर देखकर) मेरे मित्र के लिये सादा शरबत का।

परन्तु यह तो बतलाइये कि आप कैसे महाकवि का पता पा गये ? बात क्या है ? कुछ हम भी तो सुनें ।

पण्डितजी ने गला साफ करते हुए कहना शुरू किया—

प्रश्न अनुचित नहीं है । सच पूछिये तो इस प्रश्न से मुझे बहुत ही खुशी हुई है । इससे मुझे यह मालूम हो गया कि जिज्ञासाभाव अब तक इस संसार में वर्तमान है—वह भाव जिससे प्रेरित होकर न्यूटन ने—जिनका नाम बच्चा बच्चा जानता है, उनका नाम न्यूटन ही था न ?—पृथ्वी की आकर्षण शक्ति का पता लगाया और जिससे प्रेरित होकर मुझसा क्षुद्र ('नहीं, नहीं, ऐसा न कहिये' की आवाज) व्यक्ति भी प्रेतात्माओं से वार्तालाप करने की शक्ति प्राप्त करने पर अपने बाप-दादा से बात करने की इच्छा न प्रकट कर महाकवि कालिदास से कुछ प्रश्न पूछना चाहता है । उसी मनोवृत्ति के फल-स्वरूप इस प्रश्न ने सचमुच मुझे बड़ा प्रसन्न किया । उसी का मैं आपको उत्तर दूँगा ।

मैं और लोगों के सामने यह स्वीकार करता हूँ कि मुझे आज से दस दिन पहले 'स्पिरिचुअलिज्म' पर, जिसे हिंदी लेखक प्रेतविद्या आदि विभिन्न नाम देते हैं, लेशमात्र भी विश्वास न था । इसका कारण यह था कि मैं इस बात को मानने के लिये तैयार न था कि परलोकवालों से वार्तालाप करने की रीति पाश्चात्योंको मालूम हो और भारतीयों को नहीं । मैं बराबर

कहता था कि ऐसा होना बिलकुल असम्भव है।

पर अब मेरे ज्ञानचक्षु खुल गये। जिस सज्जन की सहायता से मैं महाकवि से बात करना चाहता हूँ उन्होंने ही मुझे यह बात बतलायी। उन्होंने कहा कि हमारे ऋषि मुनि तो चाहे जब प्रेतात्माओं से बातें किया करते थे, उन्हें लकड़ी की तिपाई की क्या जरूरत थी ?

बात पते की थी। उसी क्षण मुझे विश्वास हो गया कि ऐसा होना सम्भव जरूर है। मैंने उनसे कहा कि जब आपने मुझे इस महान् सत्य का ज्ञान कराया है तो आप ही मुझे पर-लोक से बातचीत भी करा दें। मैं किसी झूठे धोखेबाज के हाथ नहीं फँसना चाहता।

उन्होंने कहा—आपने बहुत ठीक सोचा है। सच पूछिये तो सौ में नब्बे धोखेबाज ही निकलते हैं। मैं आपको मुझपर भी आँख मूँदकर विश्वास करने नहीं कहता। मैंने एक नवीन प्रणाली का आविष्कार किया है। इसमें 'प्लैंचेट' या 'मीडियम' की आवश्यकता नहीं। आप स्वयं बिना किसी की सहायता के प्रेतात्मा से बात कर सकेंगे। टेलिफोनपर प्रेतात्मा बुला दूँगा और सीधे आपके कानों में आत्मा की आवाज आयेगी तब तो विश्वास होगा ?

मैंने कहा—निस्सन्देह !

पर प्रश्न यह उठा कि किसकी आत्मा से बातचीत करूँ।

इस विषयपर भी उक्त सज्जन ने मेरी बड़ी सहायता की। उन्होंने कहा कि लोग प्रायः अपने बाप दादा से मिलना चाहते हैं। पर ऐसा न करना चाहिये। ऐसा करने से उनकी आत्मा फिर से इस माया जाल में फँस जाती है। दूसरे यदि आप उनसे सांसारिक प्रश्न पूछेंगे तो उनका उत्तर ठीक न होगा कारण मरने के बाद वे सब बातें भूल जाते हैं और अपने रिश्तेदारों को जल्दी पहचानते तक नहीं। जो लोग प्रेतात्मा से घर की बातें कहलवाते हैं, वे तो ढोंग रचकर लोगों को ठगते हैं।

उनका यह तर्क मेरे हृदय में बैठ गया। साथ ही जिज्ञासा भाव ने मुझे प्रेरित किया। मैंने महाकवि कालिदास से बातें करने का निश्चय किया है।

मैंने आपके प्रश्न का उत्तर दे दिया। अब मैं आशा करता हूँ कि आप मुझे क्षमा करेंगे। परसों शाम को आप लोग अवश्य आएँ।

× × ×

परसों......

मेरे हाथ में एक संस्कृत कोष था। शिवशंकर हाथ में चंदन की कलम, अष्टगंध और भूर्जपत्र लेकर बैठे थे।

'स्पिरिचुअलिस्ट' महोदय ने सात बजने में दस मिनटपर

टेलिफोनपर हाथ रखा। उनकी आँखें बंद थीं। उनके प्रशस्त ललाट पर विचार की प्रखरता के कारण कुछ रेखाएँ दीखने लगीं।

ठीक सात बजे टेलिफोन की घण्टी बज उठी।

पण्डितजी आशाकम्पित हाथों से टेलिफोन उठाकर कान के पास ले गये।

पर सहसा उनका चेहरा पीला पड़ गया। उनके हाथ से टेलिफोन छूट गया।

मैंने समझा कि आनंद के अतिरेक से ही पंडितजी की यह दशा हुई।

अब मैंने ही टेलिफोन उठाया। अब मालूम हुआ कि उनकी विह्वलता का कारण क्या था।

टेलिफोन से आवाज आ रही थी—हेलो! हेलो!! कालिदास स्पीकिंग!

नाक

यों तो मेरी समझ में बहुत सी बातें नहीं आतीं पर उनमें अधिकांश ऐसी हैं जिन्हें समझने की न मेरी इच्छा ही है न उसके लिए कोई प्रयत्न ही करता हूँ। पर एक बात ऐसी है जो मैं हजार कोशिश करने पर भी नहीं समझ पाता। मनुष्य को अपनी नाक की परवाह क्यों नहीं रहती?

शायद आप कहें "वाह साहब वाह! परवाह क्यों नहीं होती?"

बस यही विश्वास कि हम अपनी नाक की काफी परवाह रखते हैं हमें उसकी काफी परवाह नहीं करने देता। यों तो संसार में धनिक से धनिक और गरीब से गरीब सभी हैं, पर कोई मनुष्य गरीब है या धनी इस बात का निर्णय उसकी तुलना उसके पड़ोसियों से करने से किया जा सकता है। नाक की परवाह काफी होती है या नहीं इस बात का जवाब भी हमें उसकी तुलना उसके पड़ोसी कान, आँख और मुँह से करने से मिल सकता है।

मुँह के लिए स्वादिष्ट भोजन आप कितने यत्न से बनाते या बनवाते हैं। पर भोजन तो सारे शरीर के लिये है न? खैर जाने दीजिये मुँह को और भोजन को। अपने कानों को लीजिये। कानों को आनन्द पहुँचाने के लिए श्रुतिमधुर शब्द हैं और संगीत भी। आँखों को लीजिये। इनके लिए आप पैसा खर्च

कर नाटक और सिनेमा देखते हैं। तरह तरह के चित्र देखते हैं, तमाशे देखते हैं, प्राकृतिक दृश्य देखते हैं। पर नाक के लिये? |

क्यों न कोई कलाकार या वैज्ञानिक किसी ऐसे यन्त्र का आविष्कार करता है जिससे हम संगीत की लहर की तरह सुगन्ध की लहर का भी अनुभव कर सकें ?; जैसे हार्मोनियम, सितार, बाँसुरी, बेला आदि से आप सा—रे—ग—म आदि विभिन्न स्वर निकालते और उसी के विभिन्न प्रकार के सम्मिश्रण से विभिन्न भावों की संज्ञा कानको कराते हैं, वैसे ही क्यों न गुलाब, केवड़ा, बेला, जूही, चम्पा आदि के सप्तक बनाये जायँ और ऐसा प्रयत्न हो कि एक के बाद दूसरी सुगंध से बारी बारी से वायुमण्डल को भर दिया जाय और हमारी नाक भी कुछ तृप्त हो। सुगंधों में भी कोमल और तीव्र, मन्द, मध्यम और तीक्ष्ण सभी पाये जाते हैं अतः ऐसा करना असंभव नहीं। पर ऐसा यन्त्र बनने में समय लगेगा। पर इसक मतलब यह नहीं कि अभी आप अपनी नाक की परवाह नहीं कर सकते। यदि आप चाहें तो अपनी नाक को तृप्त करने के लिये काफी उपाय सोच सकते हैं।

पर मुश्किल तो यह है कि जब तक आदमी को जुकाम नहीं होता या बार बार छींक नहीं आती या ऐसी अवस्था नहीं होती कि नाक बहने लगे तब तक उसे अपनी नाक के अस्तित्व

का भी पता नहीं रहता, फिर उसकी परवाह करना तो दूर रहा। यकीन न हो तो आप किसी अप टु डेट जेण्टिलमैन के गार्डेन में जाइये। आप देखेंगे कि तरह तरह के रंग के सुन्दर से सुन्दर सीजन् फ्लावर आदि दूर दूर से मँगाकर लगाये गये हैं, पर फूल में अगर अपनी नाक रगड़ें तो भी आपको सुगन्ध का पता न मिले। कारण, जेण्टिलमैनों को अपनी नाक की परवाह बहुत कम होती है।

मुझे इस बात पर आश्चर्य होता था कि देवतागण मनुष्य से बड़े क्यों समझे जाते हैं। पुराणों को पढ़नेवाले मुझसे कहते हैं कि देवताओं में बेवकूफी, कमजोरी, लड़ाई झगड़ा करने की आदत वगैरह भी होती है। राजा इन्द्र को नाच गाने का काफी शौक है, अग्निदेव को भोजन का। पर मनुष्य का भी इन विषयों का शौक है। और राक्षसों ने तो जितनी बार इन्द्र को हराया उतनी और किसी दूसरे को नहीं। इनसे लड़ने में इन्द्र को अकसर मनुष्य राजाओं की सहायता लेनी पड़ती थी। फिर मनुष्य ने रेल, तार, मोटरकार, बिजली वगैरह बहुत-सी चीजों का ईजाद किया। आजकल देवताओं ने भी कुछ वैज्ञानिक आविष्कार किये हैं या नहीं यह मैं नहीं कह सकता। क्योंकि आजकल शायद सेन्सर के कारण देवलोक से कुछ भी खबर नहीं आती। पर अगर खबर आवे भी तो उससे सम्भव नहीं कि देवताओं

को श्रेष्ठता का कोई प्रमाण मिले। फिर भी देवता बड़े कहे जाते हैं—क्यों? इसका उत्तर मुझे बहुत सोचने पर सूझ पड़ा। आप एक बार किसी मन्दिर में जाकर खूब ध्यान से देखिये कि देवताओं में क्या विशेषता है—आपको फौरन इस प्रश्न का उत्तर मिल जायगा। पर शायद आप मन्दिर में जाने का कष्ट न उठाना चाहते हों इसलिये मेरा कह देना ही अच्छा होगा, क्यों?—सुनिये।

देवतागण अपनी नाक की बड़ी परवाह करते हैं। वे अपने भक्तों से केवल सुगन्धयुक्त वस्तुएँ चाहते हैं। उन्हें चढ़ाने के लिये जो भी वस्तु प्रस्तुत की जाय उसका सुगन्धित, सुवासित वा सौरभयुक्त होना अनिवार्य है। फूल, चन्दन, धूप इत्यादि पर विचार कीजिये। जैसे तरह-तरह की भोग्य सामग्री उत्पन्न और प्रस्तुत करने में तरह तरह का कष्ट तो सहन करना पड़ता है गरीबों को, और अमीर बिना परिश्रम उनका भोग भी करते हैं और अपने को बड़ा भी समझते हैं, वैसे ही हम मनुष्य अपने लोक के श्रेष्ठ से श्रेष्ठ सुगन्ध द्रव्य देवताओं को दे देते हैं और उलटे समझते हैं कि हम उनसे छोटे हैं!

शरीर के अवयवों में नाक को सबसे प्रथम स्थान मिला है। कोई अपनी नाक कटाना नहीं चाहता। पर, जिसे अपनी नाक की परवाह नहीं उसकी नाक कटते कितनी देर लगेगी?

सफ़र का साथी

रेल के डब्बे में पहले मैं पहुँचा या वह, यह मैं नहीं कह सकता। वह डब्बे में था यह तो मुझे गाड़ी में बैठने के बहुत देर बाद मालूम हुआ। मुसाफिर गाड़ी, और वह भी 'छोटी लाइन' की। गाड़ी की चाल से—धीमी हर एक स्टेशन पर घंटों विश्राम करनेवाली चाल से—मुसाफिर को अनन्त का कुछ आभास सा मिल जाता था। जब मैं सवार हुआ उस समय काफी भीड़ थी। पर धीरे धीरे एक दो करके सभी मुसाफिर उतरते गये। अन्त में मैं अकेला ही रह गया, कम से कम मैंने यही समझा कि मैं अकेला हूँ।

डब्बे में अकेला रहने में स्वतन्त्रता—स्वच्छन्दता का सच्चा आनन्द मिलता है। तीसरे दर्जे में बैठने के लिए अगर जगह मिल जाती है तो मैं यात्रा समाप्त करते ही किसी देवता को मिठाई जरूर चढ़ाता हूँ। पर समूचे डब्बे में अकेला रहनेपर कितना आनन्द होता है यह मुझे पहली ही बार मालूम हुआ। सारा का सारा डब्बा आपका है। आप चाहे जो कर सकते हैं। आपने थियेटरों में देखा होगा कि अभिनेता 'स्वतः' इतने जोर से बोलते हैं कि चौअन्नीवालों का भी कान फट जाना चाहता है। ठीक इसी प्रकार आप रेल के डब्बे में भी—यदि आप अकेले

हों—स्वतन्त्रतापूर्वक अपने आप से बातचीत कर सकते हैं। आप चाहें तो लेक्चरबाजी का रिहर्सल भी कर सकते हैं। यही नहीं, आप चाहें तो अपने सिर के बल खड़े भी हो सकते हैं। आपको गाने का शौक हो, लोगों के सामने गाने में झेंपते हों तो बस यही मौका है। रेलगाड़ी ताल देती है और आप अपना गाना शुरू करदें। आप एक चाहें तो एक, दो चाहें तो दो, जितनी चाहें उतनी खिड़कियाँ खोल सकते हैं या बन्द कर सकते हैं। आप चाहें तो केवल खिड़की ही खोलते और बन्द करते रह सकते हैं। आप चाहें तो खड़ा रह सकते हैं, अथवा लेट सकते हैं अथवा उछल सकते हैं। जो कुछ करें वही उचित है। न कोई रोकने वाला है न कोई हँसनेवाला।

पर आज मैंने ऐसा कुछ भी नहीं किया वरंच मैंने एक बहुत साधारण काम किया। जब मेरे साथी सभी मुसाफिर उतर गये तब मैंने अपने हाथों और पैरोंको फैलाया, खिड़की से खिली हुई चाँदनी की ओर देखा, फिर दूसरी तरफ़वाली खिड़की से बाहर देखा, और अन्त में फिर पढ़ना शुरू किया। इसी समय मुझे मालूम हुआ कि मैं अकेला नहीं, मेरे साथ एक और मुसाफिर है। उसने एक बार डब्बे के चारों ओर चक्कर लगाया, फिर रोशनी के चारों ओर घूमा और अन्तमें निश्चय किया कि कोने में बैठा हुआ भीमकाय जन्तु (मैं) ही सबसे मजेदार वस्तु

है। वह आकर मेरी नाकपर बैठ गया। उसे अपनी नाकपर से हटाया। वह मेरी गरदन पर फिर आकर सवार हो गया।

मैंने उसे फिर भगा दिया। उसने फिर एक बार चारो तरफ चक्कर लगाया। और फिर लौट आकर मेरी कलाई पर सवार हो गया। मैंने कहा—दया की भी हद होती है। मैंने तुम्हें दो बार चेतावनी दे दी कि मैं विशेष व्यक्ति हूँ। मुझे अपरिचित मुसाफिरों को अपनी नाक कानपर बैठाने की आदत नहीं। मैं तुम्हें मृत्युदण्ड देता हूँ। तुम शैतान हो, दूसरों को तुम चैन नहीं लेने देते, तुम "डब्ल्यू० टी०" (बिना टिकट के) सफर करने वाले मुसाफिर हो, इन अपराधों के कारण तुम्हें मौत की सजा दी जाती है।

मैंने अपने दाहिने हाथ से एक तीव्र आघात किया, पर वार खाली गया। वह धीरे से अपनी जगह पर से उठ गया, मैं मुँह ताकता ही रह गया। पर अब मुझे क्रोध चढ़ आया था। मैंने थप्पड़, अखबार और किताब आदि शस्त्रों से उसपर हमला किया, रोशनी के चारो ओर मैंने उसके पीछे चक्कर लगाया। मैं चुपचाप स्थिर हो गया, और उसके बैठ जानेपर सहसा उसे मारना चाहा। पर वह फिर ऐन मौकेपर मुझे धोखा दे निकल भागा।

मेरी कोशिशें बेकार हुईं। वह मुझसे खेलते हुए खिलाड़ी की

तरह खेलने लगा। उसे भी इससे आनन्द ही होता था। उसको इच्छा जरा खेल कूद की थी। इतने विशाल पर मूर्ख जानवर को हैरान करने से बढ़कर कौन खेल हो सकता था। पर धीरे धीरे उसका मर्म समझने लगा। वह भी एक व्यक्तित्व रखता था और डब्बे के व्यवहार में हिस्सेदार होना चाहता था। मेरे हृदय में उसके प्रति उतने कठोर भाव अब नहीं रहे। मैंने अपने को उससे बड़ा समझना छोड़ दिया। जब पहली मुठभेड़ में ही मुझे उसने नीचा दिखाया तो मैं अपने को उससे श्रेष्ठ कैसे समझ सकता था। फिर भी "दयालु" क्यों न हो जाऊँ? दया और उदारता ही मनुष्यत्व के प्रधान गुण हैं। इन गुणों का अवलम्बन कर मैं अपने सम्मान की रक्षा कर सकता था।

अभी तक मैं एक हास्यास्पद प्राणी था। दयालु होकर मैं फिर अपनी नैतिक शक्ति दिखा कर इज्जत के साथ एक कोने में जाकर बैठ सकता था। जाओ मैंने तुम्हारी सजा रद्द की, तुम्हें क्षमा किया।

मैंने अपना अखबार उठा लिया और वह फिर आकर उसके बीच में बैठ गया। अरे मूर्ख, यदि मैं चाहूँ तो झटके के साथ इस साप्ताहिक को बन्द कर दूँ और तुम "अहिंसात्मक संग्राम" और "फिर एक बम फूटा" के बीचमें ही सदा के लिये रह जाओगे। पर नहीं, मैं ऐसा नहीं करूँगा। मैं तुम्हें

मारना नहीं चाहता। मैं तुम्हें दिखा दूँगा कि यह भीमकाय पशु अपने वचन का धनी है। और अब तो तुम्हारे साथ इतनी देर के परिचय के बाद तुमसे प्रेम सा होगया। महात्मा गांधी शायद तुम्हें "छोटा भाई" कहते। मैं यह सम्बन्ध मानने को तैयार नहीं। पर तुमसे अब दूसरा संबन्ध हो गया है। हम लोगों ने एक साथ ही सफर किया है। मैंने तुम्हें और तुमने मुझे कुछ देर के लिए खुश किया। हम दोनों ही अद्भुत प्राणी हैं। हम दोनों का जीवन पहेली सा है। रात्रिके अन्धकार से गाड़ी की रोशनी के पास कुछ देर चक्कर लगाना और फिर बाहर उसी अन्धकार में लीन हो जाना।

"क्यों बाबूजी उतरियेगा नहीं?" एक परिचित कुली ने कहा। मैंने कहा कि मुझे झपकी सी आरही थी। झट उठकर अपना सामान लेकर उतर पड़ा। मेरा साथी मुसाफिर रेल के चारो ओर चक्कर लगा रहा था। मेरा वह साथी था परवाला पर बेपरवाह, लोग उसे मच्छड़ कहते हैं।

पण्डितजी का बटुआ

मैं तो घबरा गया !

फुहारे पर से दो टिकट इलाहाबाद के खरीद कर पण्डित गोवर्धनमिश्र को सवेरे ही दे चुका था। फिर दिन के डेढ़ बजे उन्हें और उनकी स्त्री को एक्के पर बैठाकर स्टेशन के लिये रवाना भी कर चुका था। उनकी गाड़ी लगभग ढाई बजे छूटती थी। तीन बजे उन्हें मेरा नाम लेकर पुकारते सुन, मेरा घबराना स्वाभाविक ही था।

दौड़कर नीचे गया और पूछा "क्यों पण्डितजी, बात क्या है ? कुशल तो है ? भाभी कहाँ हैं ?"

पण्डितजी के मुँह से—अथवा नाक से, मैं ठीक नहीं कह सकता—एक गम्भीर ध्वनि निकली जो 'हाँ' 'हूँ' 'हीं' तीनों से मिलती थी।

"आखिर बात क्या है ?"

फिर वही ध्वनि।

"आप लौट कैसे आये ?"

"तुम्हारे यहाँ तो न पान रहता है न भाँग, तुम कुछ खाते ही नहीं ! आखिर ईश्वर को क्या उत्तर दोगे ?"

"पर पहले आप तो मुझे उत्तर दीजिये। आप को मैं

इलाहाबाद के लिये रवाना कर आया था। भाभी भी आपके साथ थीं। वह कहाँ हैं? आप यहाँ कैसे?"

"पहले नौकर से कहो कि पान ले आवे; और फिर भाँग तैयार करे तब मैं सब वृत्तान्त सुनाऊँगा।"

मैंने वैसा ही किया। पण्डितजी ने कहना आरम्भ किया—

"तुम्हें स्मरण होगा कि काशी में कुछ दिन पहले एक प्रदर्शनी वाली रेलगाड़ी आयी थी......"

"पर मैं तो आपके न जाने का कारण पूछ रहा हूँ—महीने दिन पहले की बात सुनकर क्या करूँगा?"

"बीच में बाधा न दो! हाँ, तो तुम्हीं लोगों के—विशेष कर तुम्हारे दबाव डालने के कारण मैं अपनी स्त्री को भी प्रदर्शनी दिखाने ले गया। वहाँ मेरी स्त्री ने एक वस्तु खरीदी जिसे मैं और वह बटुआ और तुम 'वैनिटी केस' कहते हो। इसके खरीदे जाने का कारण यह था कि उसने एक 'अप-टु-डेट' देवी जी को यह खरीदते देखा। बस वही समझो तो एक प्रकार से 'मकर स्नान' के लिये आज प्रयाग न जा सकने का कारण है।

"जब तुम आज प्रातःकाल मेरे लिये कुहारे पर से टिकट खरीद कर ले आये तो मैंने उसे अपने बटुए में रख दिया। जब चलने का मुहूर्त्त आया तो मैंने अपनी मूर्खा स्त्री से कहा कि बटुआ ले लो!

"जब प्लेटफार्म पर जाने के लिए टिकट दिखाने की आव-श्यकता हुई तो मैंने उससे कहा बटुआ कहाँ है। उसने झट अपना बटुआ—वहीं वही—मेरे सामने कर दिया! मैंने कहा कि यह बटुआ तुम्हें किसने लाने को कहा, भला इसे साथ लेकर कोई प्रयाग स्नान करने को जाता है, मुझे मेरा बटुआ दो। उसने कहा कि आपका बटुआ मैं क्या जानूँ।

"सच कहता हूँ कि उस समय मुझे इतना क्रोध आया कि अगर वह स्टेशन पर न होकर घर में होती तो...पर कोई चिंता नहीं! प्रयाग पहुँचने दो, फिर..."

"इतना क्रोध न कीजिये! भूल सबसे होती है!"

"भूल! ऐसी भूल! ऐसी भूल जिससे हो वह मनुष्य नहीं पशु है। यह देखो मेरा बटुआ, इसमें मैंने उसके सामने ही टिकट रखे थे। उसे इतना भी ध्यान न रहा? मैंने जब उसे बटुआ लेने को कह दिया, तो मेरा दृढ़ विश्वास है कि वह मेरा अभिप्राय समझ गयी थी। पर जब ले जाना भूल गयी तो उसने यह बहाना निकाला!"

"अगर उन्होंने आपका मतलब ठीक-ठीक समझ भी लिया हो तो भी किसीके लिये बटुआ भूल जाना बड़ी बात नहीं।"

"तुम तो उसका पक्ष लोगे ही! जिस तरह अभी तुम्हारी मेज पर मैंने अपना बटुआ रक्खा है ठीक इसी तरह यह मेरे

यहाँ भी रखा हुआ था। ठीक आँख के सामने। यदि उसे जरा भी बुद्धि होती तो वह उसे भूल न सकती थी। पर वह तो पड़ोसिनों से मिलने-जुलने में ही व्यस्त थी! देखूँगा उसकी पड़ोसिनें उसे प्रयाग में कैसे बचाती हैं!

"अच्छा अब दूसरी गाड़ी ५ बजे है। मैंने सोचा कि टिकट लेकर लौटने के पहले तुम्हारे यहाँ जरा भाँग छान लूँ। वह अभी स्टेशन में ही बैठी है। उसके साथ, उसीके समान मूर्ख, उसका एक भाई है। वह भी उसी गाड़ी से जा रहा था। पर उसने उसे रोक लिया। अब वह भी साथ जायगा। पर प्रयाग में बच्चू अपनी बहिन को न बचा सकेंगे, चाहे गाड़ी भर भले ही वह उसके 'बडी गार्ड' बने रहें।"

मैंने देखा कि पण्डितजी को शान्त करने का प्रयत्न वृथा है। मेरे सामने मेज पर रखे हुए बटुए के कारण उनकी स्त्री को मार खाना बदा है!

भाँग आते आते चार बज गये। मैंने नौकर को कहा कि जल्द एक तेज एक्का ले आ जो पण्डितजी को समय पर पहुँचा दे। पर उस कम्बख्त ने बड़ी ही देर लगायी। पण्डितजी अधीर हो उठे। क्रोध में तो थे ही कहा—"चलो मैं स्वयं गोदौलिया पर एक्काकर लूँगा।"

बाहर निकले। दस कदम बढ़े इतने ही में देखा नौकर

सामने से एक्का लेकर आया। पण्डितजी उसपर बैठे। मैंने पण्डितजी को फिर एक बार शान्त होने को कहा। उन्होंने कहा "नहीं कदापि नहीं! ऐसी भूल जो करे वह मनुष्य नहीं पशु है। मैं उसे अवश्य दण्ड दूँगा।"

एक्का निकल गया। मैं धीरे धीरे घर लौटा। देखा मेज पर उनका बटुआ पड़ा है!

एक बार इच्छा हुई कि पण्डितजी के पीछे दौड़ूँ। फिर कहा—"जाने दो!"

गुलामी के सुख

शाम को मैं टहलकर घर आया तो देखा कि बिलकुल अँधेरा है। मालूम हुआ कि अचानक बिजली की बत्तियाँ बुझ गयीं, फ्यूज जल गया था। एक मिस्त्री को बुलवाया। उसने कहा—कोई रोशनी लाइये। बाजार से एक मोमबत्ती मँगवायी! वह लाइन ठीक करने लगा।

विज्ञान का थोड़ा बहुत ज्ञान मुझे है। थोड़ा बहुत ज्ञान से मतलब यह कि खराबी क्या हुई थी यह तो मैं समझ सकता था, पर उसे दूर करने में असमर्थ था। यदि मैं कुछ न जानता रहता तो मैं अन्यमनस्क होकर दूर रहता। यदि अधिक जानता रहता तो शायद खुद मरम्मत कर लेता। थोड़ा बहुत जानने के कारण मैं चुपचाप खड़ा हो कर देख रहा था और मिस्त्री अपने काम में लगा था।

कुछ देर परिश्रम करने के बाद मिस्त्री ने सिर हिलाकर कहा—इस समय ठीक नहीं हो सकता, सुबह देखूँगा।

मुझे कुछ लिखने की जरूरत थी। अन्त में निराश होकर उसी मोमबत्ती के धीमे प्रकाश में मैं लिखने बैठा।

कहाँ तीस 'कैण्डल-पावर' और कहाँ एक टिमटिमाती मोम-बत्ती! लिखते समय दुःख भी होता था, कष्ट भी, परेशानी भी।

पर करता क्या ? लाचार था। अपनी आदत से भी लाचार था, अपनी हालत से भी लाचार था। कभी अपने सामने के कामपर गुस्सा आता, कभी उस मिस्त्री पर, और कभी मोम-बत्ती पर।

पर उस समय मुझे बिजली को बत्तीपर बिलकुल गुस्सा न आया। कारण मैं बिजली की रोशनी का गुलाम हो चुका था—और हूँ। मोमबत्ती स्वतंत्रता की प्रतिमूर्त्ति थी। पर गुलामी का सुख अनुभव करते करते, सुख की गुलामी करते करते, मैं स्वतंत्रता का दुःख न सह सका, अतः दुःख से स्वतंत्रता भी न पा सका।

'स्विच्' के दबाते ही जब कमरे में प्रकाश उमड़ पड़ता है, उसी समय हम गुलाम भी हो जाते हैं, बँध भी जाते हैं। गुलामी की जंजीरें सचमुच इन प्रकाश-किरणों की तरह ही सुनहरी, सुखद, और अदृश्य होती हैं। फिर भी हम उनमें बँध जाते हैं। हम सोचते तो हैं कि हम प्रकाश भण्डार के स्वामी हैं—हमारी उँगली के इशारे पर प्रकाश और अँधेरा होता है, पर वास्तव में हम बिजली कम्पनी के मजदूरों और मिस्त्रियों के गुलाम हैं—गुलाम !

यही कारण है कि इनसे हमें सुख मालूम पड़ता है !

यदि हमें स्वयं बिजली की मशीन का प्रबंध आदि करना

पड़ता, तो हमें इतना सुख न मिलता। हम सुखी हैं निश्चिन्त होने के कारण—निश्चिन्त हैं, गुलाम होने के कारण।

स्वतंत्रता में चिन्ता है, दुःख है, परिश्रम है, कष्ट है। स्वतंत्रता का अर्थ तंत्रहीनता नहीं।

जो लोग सुख की उम्मीद से स्वतंत्रता की उपासना करते हैं वे स्वतंत्रता के दुःखों का अनुभव कर बड़े ही दुखी होते हैं। अन्त में स्वतंत्रता प्रेमी से स्वतंत्रताद्रोही हो जाते हैं।

आज कल जो धार्मिकता का अभाव है उसका भी मेरी समझ में यही कारण है। हमारे धर्म उपदेशक यही बताते आये हैं कि धर्म से मनुष्य सुखी होता है। उद्देश्य सुख हुआ, धर्म केवल उपाय। सुखी होने के उद्देश्य से जो लोग धर्म का अवलम्बन करते हैं उन्हें जब केवल दुःख ही दुःख मिलता है और वे देखते हैं कि जो लोग पाप करते हैं उन्हें बहुत सुख मिलता है, तो वे स्वभावतः धर्मोपदेशकों को मूर्ख या झूठा समझ लेते हैं और धर्म को तिलांजलि दे देते हैं।

अँग्रेजी में एक कहावत है—मुझे इस बात की बड़ी खुशी है कि यह हिन्दी में नहीं है—कि ईमानदारी सबसे अच्छी 'पालिसी' है। पर बात बिलकुल गलत है। ईमानदारी और पालिसी में आग और पानी का सम्बन्ध है, दोनों का मेल असंभव है।

मैंने तो धर्मात्माओं का जीवन साधारण अर्थ में सुखमय होते नहीं देखा। ईसा मसीह से लेकर गांधी तक सभी महापुरुषों का जीवन साधारण अर्थ में बड़ा ही कष्टमय रहा है। जो लोग धर्म को साधन और सुख को साध्य बतलाते हैं वे वास्तव में पाप की वृद्धि करते हैं। क्योंकि जब सुख को धर्म से अधिक महत्ता दी गयी, तब यदि सुख प्राप्ति के लिये कोई मनुष्य पाप का अवलम्बन कर अपने जीवनको सुखमय बनाने में सफल हो तो उसने धर्म छोड़कर अच्छा ही किया।

जब हमें बहुत शीघ्र किसी स्थानपर पहुँचने को उत्कंठा रहती है, तो हम चलते समय किसी भी कारण से रुकते नहीं चाहे राह में कोई बहुत ही सुन्दर दृश्य दिखलाई पड़े या पैर में कांटे चुभें। पर यदि हम किसी स्थान को इसलिये जाते हैं कि राह में सुन्दर सुन्दर दृश्य दिखलाई पड़ेंगे, और यात्रा आरंभ करते ही कांटे चुभने लगें तो हमारा उस राह को छोड़ना स्वाभाविक ही नहीं न्यायसंगत भी होगा।

जिन्हें स्वतंत्रता से प्रेम है, उन्हें हमेशा इस बात को स्मरण रखना चाहिये कि स्वतन्त्रता में सुख नहीं दुःख है, आनन्द नहीं क्लेश है। तभी उनका स्वतन्त्रता प्रेम स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी जीवित रह सकेगा।

स्वतंत्रता के लिये क्यों मरें ?

जिस तरह हमें भोजन की भूख लगती है उसी तरह हमारे अन्दर स्वतंत्रता के लिये भी एक भूख है। जैसे बहुत दिन उपवास करने से भूख मर जाती है, उसी तरह गुलामी में रहते रहते स्वतंत्रता की भूख मर जाती है। जैसे अरुचि बीमारी का लक्षण है और कमजोरी लाती है, जैसे जिस मनुष्य को भूख एकदम न लगती हो वह खाना छोड़ देने से मर जायगा, उसी तरह जिसे स्वतंत्रता की भूख का अनुभव नहीं होता उसकी नैतिक मृत्यु हो जाती है। अतः स्वतंत्रता की क्षुधा को प्रज्वलित करना परमावश्यक है—चाहे स्वतन्त्रता से हमें केवल दुःख की ही प्राप्ति क्यों न हो।

स्वतन्त्रता सुख के लिये साधन नहीं, बल्कि स्वयं साध्य है। इसमें दुःख है, कठोर दुःख है। पर इससे क्या ?

दुःख के जीवन में ही जीवन का सुख है। सुख के जीवन में जीवन का सुख कहाँ ?

हम स्वतन्त्र होंगे, सुखी नहीं। स्वतन्त्रता सुख से बढ़कर है।

× × × ×

यदि आप भी बिजली के आदी हों, और आपके घरकी बत्तियां बुझ जायँ तो मोमबत्ती के प्रकाश में इस लेखको पढ़ियेगा।

और मैं आशा करता हूँ कि यदि मेरे घर में फिर कभी मोमबत्ती नजर आवे तो मेरे कोई पड़ोसी मेरा ध्यान इस लेखकी ओर दिलावेंगे।

मैं होता तो....

हाल में ही मैं एक सभा के लिए चन्दा इकट्ठा करने निकला। चंदा इकट्ठा करने में, सो भी दूसरे के लिए, बड़ा मजा आता है। यदि अधिक चन्दा इकट्ठा कर सकें तो आप का नाम होता है। थोड़ा इकट्ठा करें तो चन्दा देनेवाले बदनाम होते हैं। जैसे रोगी के अच्छा हो जाने पर डाक्टर का नाम होता है, और मरने पर ईश्वर की बदनामी।

चन्दा देने वालों में एक विशेषता होती है। चन्दा देते समय उनकी बुद्धि कुछ कुंठित हो जाती है। उनको सबसे बड़ी समस्या यह मालूम पड़ती है कि कितना चन्दा दें। सोचते हैं कि कहीं बहुत कम दे दिया तो लोग मुझे मक्खीचूस समझेंगे। और कहीं ज्यादा दिया तो लोग फजूलखर्च तो समझेंगे ही, और भी न जाने कितने चन्देवाले आ पहुँचेंगे। इस समस्या को हल करने के लिये उनका पहला प्रश्न यही होता है कि इन्होंने कितना चन्दा दिया, उन्होंने कितना चन्दा दिया।

एक साहब ने इसी प्रकार पूछा "......जीने कितना दिया।

मैंने कहा "पाँच रुपये।"

"सिर्फ पाँच रुपये" उन्होंने आश्चर्य से पूछा।

"यदि मैं उनकी जगह होता तो कमसे कम दस रुपये देता।"

उनके एक मित्र पास ही बैठे थे। उन्होंने कहा "इसीलिये तो आप उनकी जगह पर नहीं हैं।"

पर मेरा तो यह विश्वास है कि यदि ये सज्जन......जीकी जगह पर होते तो ये भी सिर्फ पाँच रुपये—न ज्यादा न कम—देते।

कारण, उस परिस्थिति में रहने से उनकी बुद्धि भी ठीक उसी तरह की हो जाती।

जो कुछ भी हो, हम यह हमेशा सोचते हैं कि यदि मैं उसकी जगह पर होता तो ऐसा करता। सचमुच इस विचार में बड़ा आनन्द है। हाँ, कभी इस विचार से दुःख भी होता है। मेरे एक मित्र हैं जो कभी कभी यह सोचते सोचते कि यदि यह विपत्ति मुझपर आती तो मैं क्या करता, व्याकुल हो उठते हैं। पर विपत्ति में उठने वाले भावों के अनुभव में भी आनन्द है। इसलिये हमें सुन्दर दुःखान्त नाटक में आनन्द मिलता है। इन चरित्रनायक की कठिनाइयों को अपनी ही कठिनाइयाँ समझ आनन्द का अनुभव करते हैं।

अधिकतर लोग यही सोचते हैं कि यदि हम उसकी तरह अमीर होते, या सुखी होते, या विद्वान होते, या बलवान होते, तो क्या क्या करते।

मैंने एक बार एक बालक से पूछा कि यदि तुम्हें पचास रुपये मिलें तो तुम क्या करोगे ?

उसने फौरन जवाब दिया कि मैं जंजीर खींचकर देखूँ कि किस प्रकार चलती रेलगाड़ी खड़ी हो जाती है, इसके बाद पचास रुपये जुर्माना दे दूँ !

मैंने एक गरीब मित्रसे यही प्रश्न दुहराया । वे सोचने लगे । मैं चुपचाप बैठा था और वे बेचारे सोचते जा रहे थे । मानो सचमुच उन्हें पचास रुपये मिल गये हों । कुछ देर बैठने के बाद मुझे लज्जा मालूम होने लगी । सोचने लगा कि क्यों मैंने इनसे यह प्रश्न पूछा । मैंने उनका ध्यान दूसरी ओर खींचना चाहा । पर वे अपने विचारों में ही मग्न थे । बहुत देर तक चुप रहने के बाद अन्त में उन्होंने कहा—

"भाई, यदि मुझे पचपन रुपये मिलें तो मेरे दो तीन बड़े आवश्यक काम हो जायँ ।"

वे अब तक हिसाब कर रहे थे कि पचास रुपये में किस प्रकार वे क्या क्या कर सकते हैं । जो कुछ करना उन्हें आवश्यक मालूम पड़ा उसका खर्च जोड़कर उन्होंने कहा कि मुझे पचपन रुपये की आवश्यकता है । मैं और शर्माया कि क्या उत्तर दूं । इतने में वे स्वयं ही हँसकर बोल उठे "क्षमा करना भाई । मैंने सचमुच समझा कि मुझे पचास रुपये मिल चुके

हैं, और जिन कामों को मैं बहुत दिन से करने की सोच रहा हूँ...''—इतना कहते कहते उनके चेहरे पर क्षण भर के लिये उदासी देख पड़ी—''उनको करने में मुझे सिर्फ पाँच रुपये की कमी मालूम पड़ी। तुम भी अच्छा प्रश्न करना जानते हो।''

एक दूसरे मित्र से मैंने यही प्रश्न किया तो उन्होंने उत्तर दिया कि मैं रुपयों को बंक में जमा कर दूं। वही प्रश्न मैंने कई मित्रों से पूछा। किसीने कहा कि मैं रुपये गरीबों को बाँट दूँ, किसीने कहा कि मैं कुछ दूर हवाई जहाज पर सैर कर आऊँ, एक ने कहा कि मैं मासिकपत्र निकालना शुरू कर दूँ, एक ने सोचकर कहा कि मैं कुछ किताबें और दवाएँ खरीद कर होमियोपेथिक दवाखाना खोल दूँ, एक ने कहा—पचास रुपये ? पाँच दिन पहले घूस देने के लिये मुझे यह रकम मिल गयी होती तो मैं पचास रुपये मासिक की क्लर्की पा गया होता। किसीने कुछ कहा और किसीने कुछ।

''यदि मैं उसकी जगह पर होता तो—?'' बड़ा ही मजेदार प्रश्न है। जब न सूर्य का प्रकाश ही रहता है न चिराग ही जलते रहते हैं, जब पास की चीजें भी नहीं दिखाई पड़तीं, जब हमारी आँखें इस संसार को नहीं देखतीं परंतु अपनी कल्पना से इस संसार की भाषा में एक नये संसार की सृष्टि कर सकती हैं, जब हमारे कान संसार भर के शब्दों से भरे हुए वायु

मण्डल से अपने इच्छानुसार चाहे जो सुन सकते हैं, तब किसी एकान्त स्थान में अपने को किसी दूसरे की जगह पर मानकर दूसरे के विचारों की कल्पना करने में, एक नवीन संसार के नवीन वायुमण्डल में विचरण करने में, बड़ा ही आनन्द आता है।

पर इससे बढ़कर है अपने को दूसरा समझ अपने भावों का अनुभव करने का प्रयत्न। दूसरा बनकर अपने आप होना, अपने आप रहकर दूसरा होने से भी मजेदार है।

मरने की तैयारी

पंडित गोवर्धन मिश्र ने कार्ड मेरे हाथ में दिया। यह पहला ही अवसर था जब हमारी मित्र मंडली में 'विजिटिंग कार्ड' भेजा गया था—कम-से-कम जब से पंडितजी से मेरा परिचय हुआ था तब से कभी ऐसी घटना नहीं हुई थी। पंडितजी स्वयं कुछ चकित से मालूम पड़ते थे।

उन्होंने कहा—"देखोजी! यह कौन यहाँ आया है? यह दिखाना चाहता है कि मैं अंग्रेजी कायदा जानता हूँ।

"पर नाम तो हिंदुस्तानी है—'गुप्ता' मैंने कहा।

"गुप्ता? अरे तब तो यह कोई स्त्री है। गुप्त में 'स्त्रियां टाप्' के योग से 'गुप्ता' हुआ? "एक संस्कृत प्रेमी ने फर्माया।

"आप भूलते हैं। गुप्त के गुप्ता होने का रहस्य कुछ दूसरा ही है। मुझे स्मरण है आज से तीन महीना पहले मैंने आप लोगों से इसी विषय पर कुछ निवेदन किया था। आप शायद उस दिन नहीं थे। खैर अभी प्रश्न यह है कि इस कार्ड के उत्तर में "नाट-ऐट-होम" कहकर यह दिखा दें कि हम भी अंग्रेजी 'एटिकेट' जानते हैं, या उन्हें बुला लें?" पंडितजी ने मेरी ओर देखकर पूछा।

मैंने कहा कि बुलाकर देखना चाहिये कि ये किस काम से पधारे हैं। औरों की भी यही राय हुई।

गुप्ताजी आये।

आकर उन्होंने कहना शुरू किया—

"सज्जनो ! मैं आपके अमूल्य समय को नष्ट करने आया हूँ।......"

"आप जैसे सत्यवादी से वार्तालाप करने में भला किसी का समय कैसे नष्ट हो सकता है ?" पण्डितजीने फर्माया।

"पर बात यह है कि मुझे दर्शन, वेदान्त आदि महत्त्वपूर्ण विषयों से प्रेम-सा है। अतः मैं काशी आया। मेरा उद्देश्य कुछ दार्शनिकों से मिलना तथा दर्शन पर एक दो व्याख्यान देना था। पर काशी आने पर मालूम हुआ कि काशी में अब कोई विशेषता नहीं। अब काशी मुक्तिक्षेत्र नहीं रही। महात्मा कबीर—कबीर ही न ?—तो पहले ही अपने शिष्यों से कह चुके थे कि मुझे मरते समय काशी से बाहर ले चलना, क्योंकि काशी में जितने अज्ञानी मुक्ति की लालसा से मरने आते हैं उन सब को मैं दिखा देना चाहता हूँ कि जब हृदय में ज्ञान का प्रकाश हुआ तो काशी में मरें या और कहीं, सब समान है। इसी प्रकार आपने यह भी सुना होगा कि "ब्रह्मानन्द स्वरूप है जिसका वह काशी जाय मरे न मरे रे।" यहाँ पहुँच कर मैं तो हतारा

सा हो गया था। पर एक दयालु महानुभाव ने कहा कि काशी में अब एक ही दार्शनिक रह गये हैं जिनसे बढ़कर दार्शनिक यहाँ कोई नहीं। वह हैं पंडित गोवर्धन मिश्र। इसीलिये मैं कष्ट दे रहा हूँ। हे दार्शनिकवर !...''

''आप जैसे सत्यवादी से मिलकर मुझे बड़ा आनन्द हुआ। मैं आपके विचार सुनने के लिये बड़ा ही उत्सुक हूँ। आप कहते चलिये।''

''धन्यवाद ! मैं अपनी क्षुद्र बुद्धि के अनुसार (यह सुन मुझे भय हुआ कि पंडितजी शायद फिर इनकी सत्यवादिता की प्रशंसा न आरंभ करें पर वे इस समय पान खाने में व्यस्त थे !) कुछ बातें एक ऐसे विषयपर कहूँगा जो आज अनायास ही हमारे सामने उपस्थित हुआ है, और जिससे मुझे विशेष प्रेम है। वह विषय है—मृत्यु के लिये तैयारी। दार्शनिक वे हैं जो मरने के लिये, मृत्यु के लिये, देहान्त के लिये, पटपरिवर्तन के लिये तैयार हों। यदि मुझसे कोई पूछे कि दार्शनिक की परिभाषा क्या है तो मैं कहूँगा कि जो सदा मरने को तैयार रहे वही दार्शनिक है।

''एक पाश्चात्य दार्शनिक का मत है कि जीवन का उद्देश्य मृत्यु के लिये तैयारी है। बात असल यही है। लोग जीवन का उद्देश्य समझने में भूल करते हैं। सफलता असफलता कुछ चीज नहीं। जीवन का उद्देश्य, जो प्राणिमात्र के लिये एक है,

मरना है। प्राणी मरने के लिये ही जीते हैं। जो अपने ध्येय—मृत्यु को भूलकर सांसारिकता के दलदल में फंस जाते हैं उनका अधःपतन हो जाता है। जो सदा मरने के लिये तैयार रहते हैं वे ही दार्शनिक हैं, महात्मा हैं। यदि आप सब लोग इस विचार से सहमत हैं तो मैं आपके सामने एक क्रियात्मक प्रस्ताव रखूँगा, जिसके द्वारा मनुष्य मात्र मृत्यु के लिये तैयार हो सकता है और महत्ता प्राप्त कर सकता है।

"वह प्रस्ताव है जीवन का बीमा कराना। जीवन बीमा का उद्देश्य है अपने मरने के बाद अपने कुटुम्बियों की रक्षा का उपाय। इससे बढ़कर मरने की तैयारी और क्या हो सकती है? जीवन बीमा कीजिये और मरने को तैयार होकर दार्शनिक बनिये। फिर यों ही आप महापुरुष हो जायंगे। सभी को इस महत्कार्य में सहायता देने के उद्देश्य से मैंने एक सर्वश्रेष्ठ बीमा कम्पनी की एजेन्सी ली है और मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप सब लोग महान् दार्शनिक बनेंगे।"

इतना कहकर दार्शनिकजी ने कुछ फार्म वगैरह निकाल कर पण्डितजी को देना चाहा तो देखा कि पण्डितजी गाढ़ी नींद सो रहे हैं। हम लोगों ने कहा कि उन्हें न जगाना ही अच्छा होगा।